सहजानंद शास्त्रमाला

पंचास्तिकाय संग्रह प्रवचन

भाग 3

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

दिगम्बर जैन मन्दिर इन्दौर छावड़ाजी की नशीया, गोराकुण्ड नगर

पञ्चास्तिकाय प्रवचन

प्रथम, द्वितीय व तृतीय भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:

खेमचन्द जैन सर्राफ,

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको

भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७५ लागत [१३) रु०

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

•••○O○•••

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पंचास्तिकाय प्रवचन तृतीय भाग

जीवा अणाइणिहणा संता णंता य जीवभावादो ।
सब्भावदो अणंता पंचग्गगुणप्पधाणा य ॥५३॥

कर्तृत्व अन्तराधिकार—इस गाथासे पहिले २६ गाथावोंमें आत्माके सम्बंधमें यह जीव है, यह चेतयिता है और उपयोगसे विशेषित है–इन तीन विशेषणोंका वर्णन किया गया है। अब जीवतत्त्वके सम्बंधमें प्रभुता और कर्तृत्वका संयुक्तमुखसे वर्णन चलेगा, जिसमें वर्णन तो कर्तापनका होगा, पर कर्तापनके वर्णनसे प्रभुता अपने आप प्रकट हो जायगी। इस कर्तृत्व गुणके वर्णनमें सर्वप्रथम भूमिका रूपमें कह रहे हैं। जीव अनादि निधन है, अनादिकालसे है और अनन्तकाल तक रहेगा। यह जीव सान्त भी है, अनन्त भी है और ५ प्रमुख गुणों करके प्रधान है।

कर्तृत्वका मर्म जाननेके लिए एक वस्तुके परिमाणके अवगमकी आवश्यकता—कोई भी जीव निश्चयसे परके भावोंका करने वाला हो नहीं सकता, इस कारण स्वके भावका ही कर्ता होगा। एक वस्तु कितनी होती है, इतनी जानकारी हुए बिना वस्तु किसका कर्ता है, किसका भोक्ता है, यह समझमें नहीं आ सकता। इस कारण सर्वप्रसंगोंमें यह बात ज्ञानसे ओझल न होनी चाहिए कि वस्तु कितनी है? एक वस्तु उतनी होती है जिसका कोई एक परिणमन जिससे बाहर न हो और जिस पूरेमें होना ही पड़े, उतनी वस्तु एक होती है। जैसे लकड़ी जलाई जाती है ना, तो कहनेको तो लोग कहते कि लकड़ी एक है, लकड़ीका एक छोर जल रहा है, बाकी लकड़ी नहीं जल रही है तो फिर कहाँ वह एक रही? एक तो वह होता है कि जो भी परिणमन हो वह एक ही समयमें जितने पूरेमें हो उसे एक कहते हैं। जैसे आपका आत्मा एक है, आपका जो भी परिणमन होता है सुखका, दुःखका, ज्ञानका कोईसा भी परिणमन है वह परिणमन आपके सर्वप्रदेशोंमें एक होता है। वहीका वही एक परिणमन आपके सर्व स्वक्षेत्रमें होता है तब आप एक कहे जाते हैं। क्या कभी ऐसा भी होता है कि आप सुखी हो रहे हों तो पैरोंसे लेकर सिर तक जितना यह आत्मा है उसमें आधेमें सुख हो रहा हो और आधेमें दुःख हो रहा हो, ऐसा तो नहीं होता। कोई भी परिणमन हो वह आत्मामें पूरेमें हुआ करता है। ऐसी ही बात प्रत्येक पदार्थकी है। प्रत्येक पदार्थका परिणमन अपने आपके पूरेमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होता है । ये दिखने वाले सर्व समागम एक पदार्थ नहीं हैं, वस्तुभूत नहीं हैं, परमार्थरूप नहीं हैं । मायारूप हैं, संयोगजन्य हैं, अनेक पदार्थोंका समूह हैं ।

आत्माका परिमाण व कर्तृत्व—इस प्रकरणमें यह बताना है कि यह मैं आत्मा किसका करने वाला हूं ? इसका स्पष्ट निर्णय जाननेसे पहिले अपने आपको यह देख लो कि मैं आत्मा कितना एक हूं ? बस यह मैं आत्मा हूं, जितने अनुभवका यह विषय बन रहा है वह मैं एक हूं । तो इस एकसे बाहर जो कुछ भी हो वह तुमसे अत्यन्त जुदा है ना, चाहे एक क्षेत्र में यह शरीर भी पड़ा है, यह कार्माण शरीर भी पड़ा है, लेकिन उस लक्षणको देखकर जो परिणमन जिस मुझमें पूरेमें होता है वह मैं एक हूं । इस दृष्टिसे शरीर भी अत्यन्त जुदा है और ज्ञान भी अत्यन्त जुदा है । जो मुझसे जुदा है उसपर मेरा प्रयोग नहीं हो सकता । मेरे परिणमनका प्रयोग मुझपर ही होगा । मेरेसे बाहर मेरी करतूत नहीं हो सकती । मैं परिणम रहा हूं तो भी अपनेमें विकल्परूपसे कर्ता हो रहा हूं, किसी अन्यसे नहीं । निश्चयसे यह आत्मा किसी परके भावको करनेमें समर्थ नहीं है, इससे यह स्वके परिणामोंका ही कर्ता हो सकता है ।

आत्माका कुछ विवरण—भैया ! स्वके परिणामोंका करने वाला यह आत्मा कैसा है, इसके सम्बंधमें कुछ विशेष भी जानकारी होनी चाहिए । यह मैं आत्मा अनादिसे हूं, अनन्त-काल तक रहने वाला हूं, क्या ऐसा है ? हाँ है । यह मैं किसी समयसे हूं, और किसी समय तक रहूंगा, ऐसा भी है क्या ? हाँ ऐसा भी है । यह आत्मा किसी दिनसे हो, किन्तु सदाकाल रहे, ऐसा भी है क्या ? ऐसा भी है । यहाँ कभी स्वभावपर दृष्टि देना है, कभी पर्यायपर दृष्टि देना है, इन दोनों दृष्टियोंसे इसका निर्णय होगा । सभी उत्तर न केवल स्वभावदृष्टिसे आयेंगे, न केवल पर्यायदृष्टिसे आयेंगे । जब हम इस जीवको सहज चैतन्यस्वरूप परमपारिणामिक भावको मुख्यतासे देखते हैं तो यह दृष्ट होता है कि जीव अनादिनिधन है । जो भी पदार्थ है उसका स्वभाव अनादिसे है, जो भी है उसकी सत्ता अनादिसे है । कुछ न हो और बन जाय यह कैसे हो सकता है ? किस मैटरसे बना, कुछ चीज तो होना चाहिए । यह मैं आत्मा प्रति समय कुछ न कुछ बनता चला जा रहा हूं । तो मैं मूलमें कुछ तो सद्भाव हूं तब तो यह बात बनेगी । मैं चैतन्यस्वभावमात्र हूं और चैतन्यस्वभाव अनादि अनन्त है । किसीका स्वभाव कभी बना हो, कभी खतम हो जाय, यह कभी नहीं हो सकता । यदि कोई स्वभाव कभी बने कभी खतम हो तो वह द्रव्यस्वभाव नहीं है, पर्यायस्वभाव है, पर्यायकी प्रकृति है ऐसी । कभी प्रकृति बनी और कभी खतम हो गई, पर मैं जो सहजस्वभावरूपमें हूं वह अनादिसे हूं और अनन्सकाल तक रहने वाला हूं । यों स्वभावदृष्टिसे जीव अनादि अनिधन है ।

परिणमनदृष्टिमें सादि सान्तता—अब पर्यायदृष्टिसे निरखिये—जो क्रोध, मान, माया,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लोभ आदिक भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें औदयिक भाव कहते हैं। कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर ये भाव प्रकट होते हैं। यह भाव बतलावो किसी दिनसे हुए ना और किसी कालमें खतम हो जायेंगे ना? कोई भी विकार हो, आत्माके परिणामरूप विकार ये अन्तर्मुहूर्तमें बदलते रहते हैं। क्रोध सदा न रहेगा मान बन गया, मान सदा न रहेगा माया बन गया, माया सदा न रहेगा लोभ बन गया। तो यों क्रोध पर्यायसे परिणत आत्माको यह आत्मा है ऐसा निरखकर क्या यह न कहा जायगा कि यह सादि है और सान्त है? यह पर्याय मिट भी जाने वाली है, यों औदयिक भावकी अपेक्षासे जीव सादि सान्त है, इसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव होता है विचार, विकल्प, कल्पना, तर्क ये सब क्षायोपशमिक चल रहे हैं। ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम निमित्त है और यह पूर्णापूर्ण ज्ञान प्रकट हो रहा है। ऐसा यह क्षायोपशमिक भाव किसी क्षणसे हुआ है और किसी क्षण तक रहेगा। यह सादि सनिधन है। यों ही औपशमिक भाव भी सादि सान्त है। कर्म दब गया और वहाँ जो निर्मलता प्रकट हुई है वह औपशमिक भाव है। वह भी किसी क्षण हुआ था किसी क्षण समाप्त होगा, यह भी सादि सान्त है। तो यों जीव अनादि अनिधन हुआ, सादि सान्त हुआ।

परिणमनदृष्टिमें सादि अनन्तता—अब क्षणिकभावकी दृष्टिसे देखिये—यह जीव यह सादि अनन्त है। कर्मोंका विनाश होनेके निमित्तसे जो निर्मलता प्रकट होती है वह निर्मलता सादि है, किन्तु क्या यह निर्मलता आगे समाप्त हो जायगी? क्या यह निर्मलता विलीन हो जायगी? न रहेगी ऐसा तो नहीं है। कर्मोंके क्षयका निमित्त पाकर जो निर्मलता प्रकट होती है वह प्रकट होकर अनन्तकाल तक रहेगी। यों क्षायिक भाव सादि और अनन्त है और चूंकि यह आत्मा भावमय हुआ करता है तो क्षायिक भावमयताकी दृष्टिसे यह जीव भी सादि अनन्त हो गया।

यहाँ ऐसा कुतर्क न किया जाना चाहिए कि अगर किसी चीजकी आदि है तो उसका अन्त भी जरूर है, सो क्षायिक भावका जब आदि होता है तो उसका अन्त भी जरूर होता है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टिसे यह कुतर्क नहीं किन्तु तर्क-वितर्क है। शुद्ध ऋजुसूत्रनयसे पदार्थके प्रत्येक परिणमन किसी समय उत्पन्न होते हैं और किसी समय दूर हो जाते हैं। क्षायिकभाव जैसा निर्मल परिणाम भी प्रतिसमयमें नवीन-नवीन होता रहता है, सदृश होता है, परन्तु यहाँ क्षायिक साधारणकी बात चल रही है। क्षायिक भाव उत्पन्न होकर वह नष्ट हो जाय ऐसा नहीं है। जैसे औदयिक भाव उत्पन्न होता है तो वह नष्ट हो जायगा। यों ही क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव उत्पन्न होते हैं और वे नष्ट हो जायेंगे ऐसा क्षायिक भावमें न लेना। क्यों न लेना कि जो क्षायिक भावमें अब विकास है वह पहिले उपाधिके कारण न था। उपाधिके निवृत्त होनेपर जो कुछ भी भाव प्रवर्तमान होता है वह जीवके सहज सत्त्वका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भाव है, वह अलगसे आया हुआ भाव नहीं है। इस कारण क्षायिक भावकी आदि तो है, पर उसका अन्त नहीं है।

अपनी बात—यह बात चल रही है अपनी। मैं क्या हूं, केवल इतनी ही बात कही जा रही है। मैं क्या हूं, इसका निर्णय किए बिना जिसने जो नाम धर दिया उसी रूप अपने को मान लेते हैं और विपदाके प्रसंगमें अर्थात् सभी करतूतोंके प्रसंगमें यह अपने आपको उस रूप पेश कर लेता है। मैं अमुक नामका हूं, अमुक पोजीशनका हूं इत्यादि। ये यथार्थज्ञान नहीं हैं, ये तो बाहरी बातें हैं। यह भी जानना है कि मुझमें जितने विकल्प होते हैं, जितने विषय-भाव उत्पन्न होते हैं, इच्छाएँ जगती हैं ये सब परमार्थसे मैं नहीं हूं, मैं तो शुद्ध सहज चैतन्य-स्वरूप हूं, इस ही से अनादि अनिधन कहा है, इस ही को परमपारिणामिक भाव कहा है।

पारिणामिक भावकी दृष्टिसे आत्माकी अनादि अनन्तता—पारिणामिक भावका अर्थ है—परिणमन जिसका प्रयोजन है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। ये पर्यायें क्यों हो रही हैं, इनकी क्या आवश्यकता है ? ये पर्यायें इस ध्रुव पदार्थका सत्त्व बनाए रहनेके लिए हो रही हैं। तो पर्यायें जिसके प्रयोजनके लिए होती हों उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। यह उसका फलित अर्थ है। वास्तविक अर्थ तो यह है कि जिसके लिए पर्यायें हुआ करती हैं वह पारिणामिक भाव है। स्वरूप ही ऐसा है, स्वभाव ही यों है कि प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय परि-णत होता रहता है। जो पर्याय है वह तो सादि है, सान्त है, किन्तु उन पर्यायोंका आधारभूत जो शाश्वत पदार्थ है वह पदार्थ अनादि अनन्त है। यह मैं अनादिसे हूं, अनन्तकाल तक रहूंगा। जितने दिनोंका यह मनुष्य जीवन है मैं उतना ही मात्र नहीं हूं, इससे पहिले अनन्त-काल पहिलेसे मैं हूं और इसके बाद भी अनन्तकाल तक हूं अर्थात् सदासे हूं और सदा तक रहूंगा।

ज्ञानीकी चिन्तना—अब इतने थोड़ेसे जीवनमें जैसे जो कुछ भी समागम पाया है उसमें ही आसक्त हो जायें, यही मेरा सब कुछ है, ऐसा मान लें तो जो इस जीवकी अनादि अनन्तता समझते हैं वे इसकी इस करतूतपर हास्य करते हैं। इस थोड़ेसे समयके लिए मिले हुए समागममें 'यह मैं हूं' ऐसी आत्मीयताका यह निश्चय कर रहा है। यह तो अनादि अनंत है, यह जीव परमार्थतः अनादि अनन्त सहज चैतन्यस्वभावको लिए हुए है। इसमें ये विभाव-परिणतियाँ कैसे आयीं और उनके कारण यह आदि अन्त वाला कैसे बनता जा रहा है ?

आत्माकी परिणमनशीलता—कोई ऐसी आशंका करे कि हमें तो विश्वास नहीं होता कि यह आत्मा ही स्वयं विभावरूप बन रहा है, और कुछ दार्शनिक ऐसे हैं भी जो इस आत्मा को सदा शुद्ध मानते हैं। यह न कभी अशुद्ध हुआ, न अशुद्ध होगा, किन्तु जंच रहा है भ्रममें ऐसा कि यह मैं हूं और अशुद्ध हूं। खैर, यह तो एक बड़े विस्तृत दर्शनकी बात है। संक्षेपमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यों समझना कि आत्मा तो सर्वथा अपरिणामी है, कभी बदलता ही नहीं है। यों कह लो कि इस आत्मामें सुख दुःख नहीं होते। तब तो फिर सुख दुःख अचेतनमें होते तो अचेतन इसकी फिक्र करें, मैं क्यों फिक्र करूँ ? ये सब आपत्तियाँ इस चेतनमें ही हो रही हैं, और ये इसमें अनादिकालसे कर्ममलीमसताके कारण होती हैं, और जब होती हैं उस समय हम उस आकार रूप परिणाम जाते हैं। जैसे कीचड़से सना हुआ पानी, बरसातका गंदा पानी—उस पानीका स्वभाव निर्मल है। कीचड़का सम्बंध होनेसे वह पानी मलीमस है और उस समय मलीमसता के आकाररूप परिणत है, ऐसे ही यह आत्मा यद्यपि सहज चैतन्यस्वरूप है, किन्तु अनादिकाल से ज्ञानावरण आदिक कर्मोंकी उपाधिसे मिला हुआ है और उस विजातीय परद्रव्यका निमित्त पाकर इस जीवमें क्रोध आदिक विकार उत्पन्न हो रहे हैं, यों यह आत्मा औदयिक भावोंसे तन्मय बन गया, और फिर जब उन भावोंका उपशम होता है, कर्मोंका क्षयोपशम होता है तब औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव भी बनते हैं, यों यह आत्मा चित्र-विचित्र भी है। हम दुःखी हैं, मलीमस हैं, अशुद्ध हैं और इस कारण निरन्तर दुःखी रहा करते हैं।

स्वचर्चा व परचर्चाकी स्थितिका अन्तर—देखो जब अपने ज्ञानकी चर्चा अपनेमें की जा रही है, देखी जा रही है उस समयके शान्ति और आनंदको परखिये, और जब यह आत्मा ज्ञानदृष्टिसे चिगकर किन्हीं बाह्यपदार्थोंमें रमता है उस समयकी शान्तिको देख लीजिए। शांति प्राप्त करना तो अपने आधीन बात है, जब चाहे ज्ञान कर लें और शान्त हो लें। इतनीसी सुगम बात अथवा यह योग्यता जिन जीवोंके प्रकट हो जाती है वे ही जीव संसारके संकटोंको टालनेमें समर्थ होते हैं। अपने आपका झुकाव अपने आपमें लग जाना, अपने आपको निरखना यह कुछ कठिन बात नहीं है। एक इसकी जिज्ञासा होनी चाहिए, रुचि बननी चाहिए। रुचि भिन्न पौद्गलिक असार पदार्थोंकी न हो तो यह बात सुगम है। परकी रुचि और अपने आपकी रुचि ये दोनों बातें एक उपयोगमें नहीं ठहर सकतीं। जैसे एक सूई एक ही समयमें आगे पीछे दोनों दिशावोंकी ओर सींती जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता, ऐसे ही यह उपयोग बाह्यपदार्थों में रमे और उस ही समय आत्माके शुद्ध चमत्कारोंमें भी रमे तो ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।

अपने कर्तव्यका निर्णय—भैया ! पहिले तो अपनी छांट कर लीजिए, इस नरजीवन से जीकर आखिर करनेको एक मात्र उत्कृष्ट काम क्या है, खूब निर्णय कर लीजिए। निर्णयमें यह जंचे कि मेरा काम मेरे ज्ञानस्वरूपको चेतते रहनेका है, अब इस ओर आपकी साधना शीघ्र सफल हो जायेगी। बल्कि परपदार्थोंकी रुचि कर-करके आप परपदार्थोंमें कभी सिद्धि न पा सकेंगे। अपने आपके अनादि अनंत आत्मस्वरूपमें मैं चिन्मात्र हूं, ऐसी बारबार ज्ञानभावना बने तो आत्मामें शान्तिका अभ्युदय हो। मुझे अपने ज्ञान, अपने दर्शन और अपनेमें ही रमना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जितना बन सके, सर्व उद्यम करके ऐसे ही रत्नत्रयकी साधना करनी चाहिए।

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होइ उप्पादो।
इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं ॥५४॥

पञ्च जीवभाव—जीवमें ५ प्रकारके भाव हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। मोहनीय कर्मके उपशमसे जो सम्यक्त्व और चारिभाव होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं और औपशमिक चारित्र कहते हैं। यह भाव इस जीवमें किसी समयसे होता और किसी समय समाप्त हो जाता है अर्थात् इस भवकी आदि है और अन्त है। क्षायिक भाव जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं। क्षायिक भावकी आदि तो है किन्तु अन्त नहीं है। क्षायिक भावमें जो तत्त्व प्रकट हुआ है वह अनन्त काल तक रहेगा। क्षायोपशमिक भाव जो किसी प्रकृतिके उदयाभावी नयसे व उपशमसे और किसी प्रकृतिके उदयसे जो अल्पविकास प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक भाब है। इस भाव की भी आदि है और अन्त है। कभी प्रकट हुआ और कुछ समय बाद यह नष्ट हो जाता है। औदयिक भाव जो कर्मोदयके निमित्तसे हो, रागद्वेष विकार विषय कषाय ये सब औदयिक भाव हैं। औदयिक भावकी आदि है और अन्त है। पंचम भाव है पारिणामिक–जीवका जो शाश्वत स्वभाव है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। इस भावकी न आदि है और न अन्त है

जीवमें असदुत्पाद व सदुच्छेदकी दृष्टि—इन ५ भावोंमें आदि अन्तकी विभिन्नता करते हुएमें यह बात बन गयी कि यह जीव भावमयी है, उन भावोंकी अपेक्षा जो कि आदि अन्तसे सहित है। उन सत् हुए भावोंकी अपेक्षा इस सत् जीवका भी विनाश है और असत्का उत्पाद है। जो विनश्वर भाव उत्पन्न हुए हैं वे अब नहीं रहे, सो उन भावोंमय जीवका विनाश है और जो भाव न थे और हो गये उन भावोंमय जीवका उत्पाद है। इस प्रकार विनाश और उत्पाद दोनों ही एक जीवमें घटित हो जाते हैं। उनका परस्परमें कुछ विरोध नहीं होता, क्योंकि इन ५ प्रकारके भावोंसे परिणमन करने वाले जीवके सत्का विनाश असत् का उत्पाद घटित होता है। कभी जैसे औदयिक एक मनुष्यगति हुई, अब वह मनुष्य आयु समाप्त होनेपर मर गया और आगे किसी देवगतिमें पहुंचा तो वह मनुष्यत्व सत् तो था, ऐसा नहीं कि वह असत् हो, केवल कल्पनाकी बात होने रूप यह जीव अपरिणामी हो। अब उस सत्‌रूप मनुष्यत्वका भी विनाश हो गया और देवत्व भाव उत्पन्न हुआ है तो देवत्वरूपसे यह जीव था, कहाँ देव था, लेकिन उस असत्का उत्पाद हो गया। इस तरह यह बात घटित होती है कि सत्का विनाश होता है और असत्का उत्पाद होता है।

नयचक्रकी साधनासे परस्पर अविरोध—भैया! यहाँ एक बात ध्यानमें रखिये, पहिले

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इसका खण्डन किया था, सत्का कभी विनाश नहीं होता और असत्का कभी उत्पाद नहीं होता, यह बात बड़ी युक्तियोंसे समझा दी गयी थी। जो चीज सत् है उसका कैसे विनाश होगा और जो चीज कुछ है नहीं उसका उत्पाद कैसे होगा ? सो यहाँ नयचक्रकी साधनासे सुनना। ये परस्परके दो प्रकरणके कथन भी इस स्याद्वादमें विरोधको प्राप्त नहीं होते। जहाँ यह बताया जाता है कि जो सत् है उसका विनाश नहीं होता, जो असत् है उसका उत्पाद नहीं होता—वह द्रव्यार्थिक दृष्टिसे कहा गया है, और जहाँ यह कहा जाता है कि सत्का विनाश हो जाता है और असत्का उत्पाद हो जाता है वह पर्यायदृष्टिसे कहा हुआ कथन है। जीव जो सत् है वह क्या कभी विनष्ट हो सकता है ? और द्रव्यार्थिकदृष्टिसे देखा जाय तो जो कुछ है ही नहीं, जब कुछ है नहीं तो उसका उत्पाद हो सकता है क्या ? नहीं हो सकता, किन्तु जब पर्यायार्थिक दृष्टिसे देखते हैं तो सत्का विनाश है और असत्का उत्पाद है। जो पर्याय नहीं है वह हो जाती है, जो पर्याय है उसका नाश हो जाता है।

असदुत्पाद व सदुच्छेदपर एक दृष्टान्त—एक दृष्टान्त लीजिए। जैसे समुद्रकी लहरें। लहरोंकी दृष्टिसे यह कह सकते हैं ना कि जो नहीं है वह पैदा हो गया। जैसे जलके जिस स्थलपर लहरें न थीं, वहाँ लहरें बन गयीं, तो थीं तो नहीं लहरें, अब हो गयीं और ये लहरें आगे चलकर नष्ट हो जाती हैं, तो जो है उसका विनाश हो गया। किन्तु समुद्रको तो ऐसा नहीं कह सकते कि समुद्र न था और वह हो गया, और समुद्र था वह नष्ट हो गया। तो जैसे उस समुद्रकी दृष्टिसे सत्का विनाश नहीं है, असत्का उत्पाद नहीं है, ऐसे ही लहरोंकी दृष्टिसे सत्का विनाश है और असत्का उत्पाद है। वहाँ यह भी देख लीजिए कि लहरोंमय समुद्र है। वे लहरें समुद्रसे कोई जुदी वस्तु नहीं हैं, समुद्रकी ही एक अवस्था बनी है। उनमें और अवस्थावानका इस तरह अभेद रहता है। कुछ चीजें वहाँ दो नहीं हैं। वह ही एक समुद्र लहरोंरूप परिणम रहा है।

जीवद्रव्यमें असदुत्पाद व सदुच्छेदका विवरण—ऐसे ही जीवद्रव्यमें निरखिये—इसमें विषयकषाय, रागद्वेष आदिक तरंगें उठती हैं, वे तरंगें इस आत्मासे भिन्न नहीं हैं। हाँ औपाधिक हैं, नष्ट हो जायेंगी। यों स्वभावदृष्टि देखनेसे वे भिन्न-भिन्न हैं, पर विभावोंका आधार और कुछ हो, जीवका आधार और कुछ हो, ऐसा नहीं है। वह एक जीवविस्तार है और वह नाना विषयकषायोंके रूपसे परिणम गया है।

पदार्थकी त्रितयात्मकता—पदार्थमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, ये तीन बातें स्वभावसे पड़ी हुई हैं। जो होता है, जो है, जो सत् है उसका नियमसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य होगा ही। लोकमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो बनता तो हो, पर बिगड़ता न हो, वह बना रहता न हो। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो बिगड़ता तो हो, पर बनता न हो या बना रहता न हो,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं है जो बना रहे पर बने और बिगड़े नहीं। कुछ भी वस्तु हो जो भी सद्भूत है वह नियमसे प्रतिक्षण बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। यहाँ बिगड़ने से मतलब उस बिगाड़से नहीं है जिसे हम आप नहीं चाहते हैं। जो अपनेको अनिष्ट जंच जाय उसे लोग बिगाड़ कहते हैं। लो काम बिगड़ गया। अरे काम बिगड़ गया तो कुछ बना भी कि नहीं? ऐसा कोई नहीं है जो केवल बने तो सही पर बिगड़े नहीं या बिगड़े तो सही पर बने नहीं। चौकी जल गयी तो आप क्या कहेंगे? काम बिगड़ गया कि बन गया? लोग तो यही कहेंगे कि भाई काम बिगड़ गया। अरे बना नहीं क्या कुछ? राख तो बन गयी। किसीका घर जल गया, लो लोग कहेंगे अरे काम बिगड़ गया। तो क्या बिगड़ ही गया, बना कुछ नहीं? अरे राख तो बन गया।

स्वार्थाशयमें बने बिगाड़की छांट—आपको घर प्यारा है इसलिए बिगड़ गए, पर दृष्टि आपकी रहती है, बन गए पर नहीं। किसी स्वार्थी मनुष्यको राख चाहिये हो काफी अधिक बहुतसे बर्तन मलनेके लिए तो उसकी दृष्टिमें तो उसका काम बन गया और जिसे घर प्रिय है उसके लिए बिगड़ गया। तो यह तो अपने निर्णयकी बात है। परंतु पदार्थमें जो अवस्था बनी है उसका तो नाम बनना है और जो अवस्था विलीन हुई है उसका नाम बिगड़ना है। आप किसी स्थितिको बिगड़ा-बिगड़ा ही क्यों देखते हैं, बना क्यों नहीं देखते हैं। मोहका प्रताप है इसलिए आप किसी पदार्थको बना और किसीको बिगड़ा देखते हैं। अरे देखो, तो दोनों एक साथ देखो। यह बिगड़ा और यह बना। पदार्थका स्वरूप ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। बना है तो कुछ बिगड़ा है, बिगड़ा है तो कुछ बना है।

हर्ष विषाद समताके भावसे पदार्थकी त्रितयात्मकताकी सिद्धि—भैया! यह तो अपने अपने मनकी बात है कि कोई बिगाड़में खुशी मानता है और कोई बिगाड़में दुःख मानता है। और कोई बिगाड़में न सुख मानता है और न दुःख मानता है। कोई तीन पुरुष बाजारमें गए। एकने सोचा कि मुझे सोना खरीदना है, एकने सोचा कि मुझे भगवानके अभिषेकके लिए सोनेकी दो कलसियाँ खरीदना है। एकने सोचा कि हमें अभिषेकके समयके लिए चार मुकुट खरीदना है। तीनों आदमी बाजार गए। अलग-अलग घरके रहने वाले थे, तो एक सर्राफके यहाँ कलसियां तोड़ कर मुकुट बनाये जा रहे थे, कलसियां बिक न रही थीं, सो सोचा कि इनका मुकुट बनवाकर बेच देंगे। तीनों आदमी उस दुकानपर पहुंचे। अब जिस को मुकुट चाहिए था वह तो खुश होने लगा, अब क्या है, अब दो मिनटमें ही मेरा काम बना जाता है, ले जायेंगे। वह तो मुकुटके बननेपर खुश होता है। जिसे कलसियाँ चाहिये थीं वह दुःखी होता है। सोचता है कि यदि मैं १५ मिनट पहिले आ जाता तो बनी बनाई कलसियाँ मिल जाती। वह कलसियोंके बिगड़नेपर दुःखी होता है। और जिसे सोना चाहिए था उसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

न हर्ष है और न विषाद है। भाई कलसियाँ मिल जायें तो ठीक, मुकुट मिल जाय तो ठीक, सोना लेनेसे मतलब। तो उन तीनोंकी अलग-अलग परिणतियाँ हो रही हैं, उसका आश्रयभूत कारण क्या है ? यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य।

पदार्थमें उत्पादव्ययध्रौव्यकी अनिवार्यता—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको छोड़कर कोई पदार्थ कभी रह ही नहीं सकता। है ही कुछ नहीं। बतावो ऐसा कौन है जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य न हो और हो ? है कुछ ऐसा ? चाहे व्यर्थकी कल्पनाएँ करके गधेके सींग मान लो। वहाँ पर भी आपकी कल्पनाका उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रहेगा। जब गधेके सींग होते ही नहीं हैं तो उनका उत्पाद व्यय और ध्रौव्य कहाँसे होगा ? यदि कल्पनासे गधेके आपने सींग मान लिया तो वहाँ गधेकी सींगसे कुछ भी मतलब नहीं रहा। फिर तो वह गधेका सींग आपके दिलमें फिट बैठा है। वह सींग गधेपर न बैठ पाया। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे शून्य हो।

उत्पादव्ययध्रौव्यके विशेष प्रतिपादनका कारण—जैनशासनमें इस वस्तुस्वरूपके वर्णनकी बड़ी प्रधानता दी है। इसके होनेका यह कारण है कि वस्तुके इस यथार्थस्वरूपके ज्ञानसे ही मोह दूर होता है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय परिणमते रहते हैं। इसका अर्थ यह लेना कि वे पदार्थ अपने ही स्वरूपसे परिणमते हैं दूसरेके स्वरूपसे नहीं परिणमते हैं। हमारा आपका कितना भी घनिष्ट स्नेह हो और आप चाहे हमारी अनुकूल इच्छानुसार कितने ही काम कर लें तिसपर भी हमारे परिणमनको आपने नहीं किया, किन्तु आपने अपने ही परिणमनसे कार्य किया है। कोई पदार्थ किसी दूसरेके रूपसे नहीं परिणमता, अपने ही स्वरूपसे परिणमा करता है, तब अपनी ही पर्यायसे विलीन होता है और अपने ही सत्त्वसे बना रहता है। जब प्रत्येक पदार्थकी ऐसी स्थिति है तो फिर यह बतलावो कि एक पदार्थ किसी दूसरेका हो कैसे जायगा ?

माननेके अनुसार वस्तुस्वरूपका अनिर्माण—भैया ! भ्रमसे मानते जावो—यह मेरा है, यह मेरा है, बस मानने ही माननेकी बात है, बन कुछ नहीं सकता अपना। कैसा भी महाबली हो, कैसा भी महान नायक हो, मनुष्योंमें तीर्थंकर और चक्रवर्तीसे बढ़कर किसका और दृष्टान्त दिया जाय, वैभव और यशमें और कौनसे मनुष्यकी बात कहें, जब इनका भी कुछ नहीं रहा यहाँ, तब अन्य बात क्या कही जाय ? तीर्थंकर भी सर्व वैभव त्यागकर केवल एक आत्मीय अनुभवमें रत हुए। तीर्थंकरमें महान बल बताया जाता है। कल्पना कर लो २० बकरोंमें जितना बल होगा उतना बल तो एक गधेमें होता होगा और २० गधोंमें जितना बल होगा उतना बल एक घोड़ेमें होता होगा। कुछ कल्पना लगा लो। २० घोड़ोंमें जितना बल है उतना बल एक भैंसामें होता होगा। २० भैंसों बराबर बल एक हाथीमें और अनेकों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हाथी बराबर बल एक सिंहमें और सैंकड़ों सिंहों बराबर बल मान लो एक देवमें और सैंकड़ों देवों बराबर बल इन्द्रमें और सभी इन्द्रों बराबर बल तीर्थंकर भगवानकी एक अंगुलीमें। अब उसे किसी भी रूपमें देख लो, प्रतापकी दृष्टिसे, पुण्यकी दृष्टिसे, शक्तिकी दृष्टिसे। ऐसे महाबली वैभववान सर्वपूजित तीर्थंकर भी किसी वस्तुको अपनी नहीं बना सके।

वस्तुस्वरूपकी अनादिता—किसी वस्तुको कोई अपनी बना ही नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने ही उत्पादव्ययध्रौव्यमें तन्मय हैं, दूसरेमें नहीं। इसी कारण सभी पदार्थ अब तक टिके हैं और अनन्तकाल तक टिके रहेंगे। न कोई पदार्थ कम हो, न कोई पदार्थ ज्यादा हो। जो है जितना है उतना अनादिसे है, अनन्तकाल तक है। कुछ लोग व्यर्थ ही अपने दिमागको तकलीफ देते हैं, ऐसा सोचकर कि था क्या इस दुनियामें पहिले, और यह दुनिया कबसे बनी ? बनानेके सिद्धान्त वाले बनानेके ढंगसे सोचते हैं और विकासके मंतव्य वाले विकासके ढंगसे सोचते हैं, लेकिन वे दोनोंके दोनों अन्य द्रव्योंसे अन्य द्रव्योंका उत्पाद होता है, विकास होता है, इस विधिसे सोचते हैं। तत्त्वभूत बात तो यह है कि यह समस्त लोक अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहेगा। इसमें न कुछ कभी बढ़ा है, न कुछ कभी घटा है। जितने परमाणु हैं वे अनन्तानन्त हैं, पर जो हैं सो ही हैं। असत् बनता नहीं, सत् मिटता नहीं, लेकिन पर्यायदृष्टिसे उत्पाद कह लीजिए, विकास कह लीजिए, सब घटित होता है।

जीवमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यका निर्देश—अपने आपके जीवद्रव्यमें व्यञ्जन पर्यायसे उत्पाद व्यय देखें तो यों समझिये कि जिस पर्यायका विनाश किया है और जिस नवीन पर्याय का ग्रहण किया है वहाँ उत्पादव्यय है। गुणपर्यायकी दृष्टिसे सोचो तो आत्माके गुणोंमें जिसका विकास हुआ है वह तो उत्पाद है और शक्तिका जो विकास हुआ है उस समयमें पूर्व विकास विलीन हो जाता है वह व्यय है, और चाहे व्यञ्जनपर्यायमें देखो अथवा गुणपर्यायमें देखो—आधारभूत जीवद्रव्य वहीका वही रहता है।

उपादेयता व भलाई—भैया ! हम अपने आपकी ऐसी यात्रा बनाए हुए चले जा रहे हैं—कहाँसे आये हैं, कहाँ जायेंगे ? न कोई बता रहा है और न कोई यों पूछ भी रहा है, न इसे खुद मालूम है और न दूसरोंको कुछ मालूम है कि यह कहाँसे आया है, कहाँ जायगा ? यह आत्मा पूर्वमें कहाँ था, कैसा था, इसको क्या जाने, पर इतना तो निर्णय है ही कि यह पहिले जरूर था और इस भवके मरनेके बाद भी यह जरूर रहेगा। इसका मूलसे विनाश नहीं है। ऐसे विनश्वर और अविनश्वर स्वरूप अपने आत्मामें यह बात निरखिये कि शुद्ध निश्चयनयसे अनादि अनन्त टंकोत्कीर्णवत् एक ज्ञानस्वभाव जो कि निर्विकार है, सदा आनंदस्वरूप है, ऐसा यह आत्मतत्त्व ही उपादेय है। एक इस अमर ज्ञानस्वभावपर दृष्टि देना ही शरण है, इसमें ही अपनी भलाई है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

णेरइयतिरियमणुश्रा देवा इदि णामसंजुदा पयडी ।
कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं ।।५५।।

जीवभवोंके निमित्त उपाधिका वर्णन—जीवमें नवीन भवका उत्पाद और पूर्वभवका विनाश क्यों हो जाया करता है, इसके निमित्तभूत उपाधिका प्रतिपादन इस गाथामें किया है। नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव नामकी कर्मप्रकृतियां हैं, वे प्रकृतियां सत्का नाश करती हैं और असत्भावका उत्पाद करती हैं। जैसे समुद्र है तो समुद्रमें समुद्रकी दृष्टिसे, जलराशिकी दृष्टिसे न तो उसमें असत्के उत्पादका अनुभव है और न सत्के उच्छेदका अनुभव है। पानी है तो पानीका अभाव तो नहीं है, और जो नहीं है उसका सद्भाव तो नहीं है, फिर उत्पाद व्यय कैसा ? तो जलकी राशिकी दृष्टिसे उत्पादव्यय नहीं है, किन्तु चारों दिशावोंसे या किन्हीं दिशावोंसे क्रमसे बहने वाली जो हवा है वही समुद्रकी लहरोंमें असत्का उत्पाद करता है और सत्का विनाश करता है। यह निमित्तभूत कारण बताया जा रहा है।

जीवमें असदुत्पाद व सदुच्छेदपर समुद्रका दृष्टान्त—जैसे समुद्र स्वयं अपने समुद्रपनेका विनाश नहीं करता और उसमें से अन्य चीजका उत्पाद नहीं करता, पर समुद्रमें जो लहरों की परिणति होती है उस परिणतिकी दृष्टिसे असत्का उत्पाद है और सत्का विनाश है, यह क्यों है उसका कारण है हवा। तो यों व्यवहारदृष्टिसे चूंकि हवाने असत्का तो उत्पाद किया, जो चीज न थी उसे तो उत्पन्न कर दिया और जो चीज थी उसका अभाव कर दिया। लहरोंमें होता क्या है ? जहाँ कि जलपर कुछ भी उठाव नहीं है वहाँ उठाव आ जाना, जहाँ उठाव है वहाँ समान हो जाना, इसीके मायने लहरें हैं। तो जहाँ लहरें नहीं हैं वहाँ लहरें बन जाना, जहाँ लहरें हैं वहाँ लहरें मिट जाना अथवा बिना लहरों वाली स्थितिका अभाव हो जाना, लहरों वाली स्थितिका उत्पाद हो जाना इसका कारण है हवा। तो वह हवा असत्का उत्पाद और सत्का उच्छेद करती है। ऐसे ही इस जीव पदार्थमें देखो जीवका जीव स्वरूपसे न तो सत्का उच्छेद है और न असत्की उत्पत्ति है, पर क्रमसे उदयमें आने वाली जो नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव नामकी प्रकृति है वह प्रकृति सत्का उच्छेद करती है और असत्का विनाश करती है।

पदार्थका परिणमनस्वभाव—प्रत्येक पदार्थका स्वभाव है कि वह अपने रूप परिणमे, किन्तु पदार्थके विपरीत परिणमनकी योग्यता हो तो अन्य उपाधिके सम्बन्धका निमित्त पाकर विपरीत परिणमन हो जाया करता है। जीवका यह काम न था कि यह अमूर्त, ज्ञानघन, आनन्दपुञ्ज, शुद्ध ज्योतिस्वरूप आत्मतत्त्व कहीं नाना प्रकारके इन शरीरोंरूप फंसा रहे और अपने स्वभावसे विरुद्ध अन्य-अन्य परिणमनोंका अनुभव करता रहे। यह जीवका स्वभाव नहीं है, किन्तु हो तो रहा है ऐसा ही। उसका कारण कर्मउपाधि है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शरीररचनाकी विभिन्न मान्यतायें—जीवका शरीर मरनेके बाद कैसा बन जाता है, इस सम्बंधमें भिन्न-भिन्न लोग अपने भिन्न-भिन्न विचार बढ़ा रहे हैं। कोई कहते हैं ऐसी अनहोनी बात कि जीव मर जाय और दूसरा शरीर पा जाय, ऐसी अद्भुत बात ईश्वरके बिना और कौन कर सकता है, पर यह तो बताओ कि ईश्वरको इस प्रकार बनाते रहनेकी अभिरुचि लग गयी है या उसकी ड्यूटी बनी हुई है या उसे ऐसा किए बिना कोई तकलीफ है या इन जीवोंपर उसे दया आयी है, इसलिए कर रहा है ? कुछ तो बतावो। और सबसे पहिले ईश्वर का स्वरूप भी निश्चित कर लो, ईश्वर आनन्दमय है या क्लेशमय है। जो क्लेशमय हो वह ईश्वर कैसा ? ईश्वर अज्ञानी है या ज्ञानमय ? जो अज्ञानी हो वह ईश्वर कैसा ? ईश्वर तो पूर्ण शुद्ध ज्ञानमय है और शुद्ध आनन्दमय है। अब जरा निगाह डालो, इस ईश्वरको लोगोंका शरीर बना-बनाकर चिपकाते रहना, इसकी अभिरुचि है क्या ? और वह भी अभिरुचि इतनी कठिन है कि सारी दुनियाका भार रखे, चिन्ता रखे, हिसाब रखे, लेखा-जोखा रखे, इतना बड़ा शौक इच्छाके बिना हो सकता है क्या ? कितनी वाञ्छायें, कितने यत्न, फिर दूसरी बात यह कि मान लो ईश्वरने ही शरीर बना दिया, पर असत्का सत् बनाया या सत्का रूपान्तर किया ? असत्को सत् बनाया, इसे माननेको तो कोई तैयार न होगा। कुछ भी न हो और बन गया वह तो नजरबन्दी है, कुछ बात ही नहीं है, और सत्का रूपान्तर किया तो इतना तो सिद्ध हो गया कि चीज थी, उसका रूपांतर हुआ, भले ही कारण ईश्वरको मान लो। उत्तम तो यह है कि ईश्वरको आराधनीय रूपमें रखना चाहिए जिससे हम प्रभुकी शक्तिका स्मरण करके, स्वभावकी उपासना करके अपने परिणामोंको निर्मल बनायें।

जीवफलोपभोगकी कर्मानुसारिता—हम सब जीवोंका शरीर बनाते रहना यदि प्रभु की ड्यूटी कह दी जाय तब तो उस ईश्वरको भी पद-पदपर खेद अनुभव करना पड़ेगा। फिर आनंदमयता कहाँ रही ? यदि जीवोंपर दया करके ऐसा किया करते हैं तो फिर दया ही दया क्यों नहीं करते ? दया करने वालेका तो दयाका साधारणतया स्वभाव होता है। घरमें कुपूत पैदा हो जाय तो उसे कोई कुवेंमें ढकेल देता है क्या ? मान लो लोग पापी हो गए तो ईश्वर को तो नरकमें न ढकेलना चाहिए, उसे तो दया ही करना चाहिए जब दयाका ही स्वभाव है। आप कहें कि नहीं कर सकते दया तो यह तो उनकी कमजोरी मानना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि जो मनुष्य जैसे कर्म करता है उस ही प्रकारका उसे ईश्वर फल दे सकता है। तो मूल बात तो यही रही ना कि जो जीव जैसे कर्म करता है वह उस प्रकारका फल पाता है। अब उसका विधिविधान बनानेमें ही विवाद रह गया, मूल बातमें तो विवाद नहीं रहा।

शरीररचनाका कारण व कर्मका स्वरूप—होती कैसे है शरीरकी रचना एक शरीर छूटनेके बाद ? उसका समाधान यह है कि यह जीव जैसे परिणाम करता है उस परिणामका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निमित्त पाकर इसके कर्म बँधते रहते हैं। वे कर्म क्या चीज हैं, इस सम्बंधमें स्पष्ट निर्णय तो किसीने बताया नहीं। कोई कहेगा तकदीर है, कोई कहेगा कि माथेकी हड्डीमें लिखा रहता है। क्या भाग्य है, किसका नाम तकदीर है, कर्म क्या है, स्पष्ट निर्णय किसीने नहीं बताया। जैनशासनमें यह कहा है कि कार्माणवर्गणा नामक सूक्ष्म पुद्गल होते हैं, उन पुद्गलोंका इस जीवके साथ सम्बंध बन जाता है, उनका ही नाम कर्म है। जीवकी तरह ये पुद्गल कर्म भी किसीसे रुकते नहीं हैं। यद्यपि जीव अमूर्त है और वह अमूर्तताके कारण पहाड़, बन आदिकसे रुकता नहीं है, और कर्म यद्यपि मूर्त हैं, किन्तु इतने सूक्ष्म हैं कि ये बज्र पर्वत आदिकसे आड़े आनेपर रुकते नहीं हैं। ऐसा सूक्ष्म कार्माण जातिका द्रव्य है और इसका रंग भी सफेद है। हालांकि कर्म आँखों नहीं दिख सकते, पर संतोंकी, प्रभुकी परम्परासे जो आगम चला आ रहा है उसमें बताया है कि कर्म श्वेत होते हैं, युक्तिसे भी देख लो। जो अत्यन्त सूक्ष्मसे सूक्ष्म चीज होगी, विज्ञान भी सम्भव बताता होगा कि अत्यंत सूक्ष्म चीजका रंग प्रकृत्या श्वेत हुआ करता है। श्वेत रंग स्थूल होता है, तो ऐसी ये कार्माणवर्गणायें इस जीवके साथ बँध जाती हैं और ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि उन कार्माणवर्गणावोंमें जैसा फल देनेके निमित्तकी प्रकृति रहती है और जितने दिनों तक ठहरनेकी स्थिति रहती है और जितने अनुपातमें फल देनेका निमित्तपना रहता है, वे सब बातें शरीररचना, रागद्वेषादिक जब उनका निकलना होता है जीवसे तब होने लगती हैं।

कर्मप्रकृतियोंकी विभिन्नतायें—निकलनेका नाम उदय है। कर्मबंध गये, पर जब तक स्थितिमें हैं तब तक उनका फल नहीं मिलता, किन्तु जब वे निकलनेके सम्मुख होते हैं, उदय होता है तब उनका फल प्राप्त होता है। वह है उनका विपाककाल। तो ऐसी ऐसी कर्म प्रकृतियाँ असंख्यात प्रकारकी होती हैं। जिन-जिन जीवोंका जिस-जिस ढंगका शरीर है उस उस ढंगकी प्रकृतियोंका उदय है। किसीका लम्बा हाथ है तो किसीका छोटा हाथ है, किसीका सांवला रूप है, किसीका गोरा है, किसीके शरीरमें दुर्गन्ध है तो किसीके शरीरमें दुर्गंध कम है, कितने आकारका है, कितने ढंगका है, शरीरोंमें कितनी विभिन्नता है? केवल एक नाककी ही बात ले लो। चेहरेपर नाक लगी है, साधारणतया यह तीन अंगुलकी नाक सबपर लगी है और एकसा ही सबका ढंग है। इस नाकमें ही देख लो कितनी विभिन्नताएँ हैं? कोई खास बात तो नहीं है मगर अरब आदमी होंगे मान लो दुनियामें दिखने वाले, सबकी नाक देखलो किसी की नाक किसीसे मिलती है क्या? और बात एकसी है। यह तीन साढ़े तीन अंगुलकी नाक और आँखोंके बीचसे निकलना, दो छिद्र रहना सारी चीजें वही की वही हैं, फिर भी किसीकी नाकसे किसीकी नाक न मिलेगी। जब एक नाकमें ही अरबों ढंग हो गए तो शरीर के अंग-अंगमें जितनी विभिन्नता है और अन्य भावोंमें भी जितनी विभिन्नताएं हैं उतनी ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रकार की कर्मप्रकृतियाँ हैं। उनके उदय का निमित्त पाकर ये सकल सृष्टियां हुआ करती हैं।

कर्मोंका विविध निमित्तपना—ये कर्मप्रकृतियाँ कोई तो शरीरके रचे जानेमें निमित्त बनती हैं, कोई कर्मप्रकृतियाँ इस शरीरको जीव आचरणसे सहित इस भवका ऊँचा और नीचा प्रसिद्ध करनेमें कारण बनती हैं। कुछ कर्मप्रकृतियाँ जीवके ज्ञानके आवरणका काम करती हैं, जिससे एक ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे समान होनेपर भी जीवोंमें यह भेद देखा जा रहा है, कोई कम ज्ञानी है, कोई अधिक ज्ञानी है। कुछ कर्मप्रकृतियाँ इस जीवको अंतरङ्गके मालूमात न करनेमें कारण बनती हैं अर्थात् दर्शन नहीं होने देती हैं। कुछ कर्मप्रकृतियां नाना प्रकारके सुख और दु:खका अनुभवन करानेमें कारण हैं। ये केवल शरीरकी रचनाकी ही कारण हों, इतना ही नहीं है। मान लो जीवका शरीर रचा गया तो इतनेसे क्या होता है? यों तो मिट्टीका खिलौना बन गया, पर और-और भी बातें इसके साथ हैं ना। कुछ कर्मप्रकृतियां ऐसी होती हैं जो जीवको सही रास्ता नहीं मालूम करने देतीं और सही रास्तेपर चलने नहीं देतीं। यह सब निमित्त दृष्टिसे कथन किया जा रहा है। कुछ प्रकृतियां ऐसी हैं जो इस जीवको शरीरमें रोके रहती हैं, जा नहीं सकता यह जीव शरीरके बाहर जब तक उसका सम्पर्क है। कुछ प्रकृतियां ऐसी भी हैं जो जीवको मनचाही बात होनेमें विघ्न उत्पन्न कराया करती हैं। ऐसे ही कर्मोंका जाल इस जीवके साथ लगा है। वे कर्मप्रकृतियां इस जीवकी विभिन्न रचनाका कारण बनती हैं।

नैमित्तिक देहमें विधिकी निमित्ततापर दृष्टान्त—प्रकृतियाँ देहादि सृष्टिकी कारण कैसे बनती हैं, इसे कुछ दिखाकर तो नहीं बताया जा सकता, पर ऐसा स्पष्ट तो आप कुछ भी नहीं बता सकते कि कैसे यह काम हो रहा है? जो कुछ आप कहेंगे वह स्थूलरूपमें कहेंगे। आगपर रोटी धर दिया, सिक गयी, हम पूछते हैं बतावो प्रतिसमयकी बात कि रोटी कैसे सिक रही है? अरे आग नीचे है, रोटी ऊपर है और सिक रही है सो देख लो, युक्तिसे समझ लो, आगमसे समझ लो। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि कोई ऐसी चीज इस जीवके साथ लगी है जिस कारणसे इस जीवकी विभिन्न दशाएँ बनती हैं, इसमें बाधा आती हो तो बतावो। किसी भी पदार्थमें विपरीत परिणमन क्या उस ही पदार्थके कारण हो सकता है? नहीं हो सकता है। खुद ही पदार्थ खुदका बिगाड़ करनेमें असमर्थ है, अपने ही निमित्त और अपने ही उपादानसे। क्या पानी अपने पानीके ही कारण अग्नि सूर्य आदिकका सम्बंध पाये बिना गर्म हो जाता है, खौल जाता है? गर्मस्रोत भी निकलते हैं जैसे राजगृहीमें निकल रहे हैं तो वहाँ आग नहीं है, सूर्य नहीं है, मगर कोई चीज साथ है, कोई उस प्रकारका द्रव्य पासमें लगा हुआ है, गंधक है या अन्य कुछ है। यह एक दृष्टान्त दिया है, पानी कोई द्रव्य नहीं है, पर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

एक स्थूल दृष्टान्त है।

जीवमें असदुत्पत्ति व सदुच्छेदका कारण उपाधि—कोई पदार्थ अपने ही स्वभावसे अपने आपमें उपाधिसन्निधान बिना विपरीतपरिणमन नहीं करता। यद्यपि विपरीत परिणमन करने वाला स्वयं है, किन्तु परउपाधिका सम्बंध पाकर ही विपरीत परिणमन कर पाता है, इतना तो सुनिश्चित हुआ ना। इस जीवके साथ कोई परउपाधि लगी है जिसका निमित्त पाकर जीव नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, क्रोधी, मानी आदिक बन रहे हैं। विकारकी बात जीवके स्वभावमें नहीं है, उस रूप भी परिणमे विकारी बन-बनकर तो उसमें जानना चाहिए कि कोई परउपाधिका सम्बंध है। वह परउपाधि क्या है कर्म नाम रख लो। कर्म नाम रखनेसे चिढ़ हो तो कुछ और नाम रख लो, पर इस मूल बातमें तो भंग नहीं किया जा सकता कि परउपाधिके बिना यह जीव नाना विचित्र परिणमता जाय। शरीर नामक नामकर्मकी प्रकृतियाँ भी असंख्यात प्रकारकी हैं। उनका उदयकाल आनेपर ये सब बातें बनती रहती हैं। तो इस जीवमें जो न था उसकी उत्पत्ति और जो था उसका विनाश होता है, इसमें निमित्तकारण उपाधि है नामकर्म।

स्वभावविरुद्ध परिणतिकी उपाधिसन्निधि बिना असंभवता—निश्चयसे यह जीव सहजानन्दस्वरूप एक टंकोत्कीर्णवत् ज्ञानस्वभावी है, नित्य परमार्थभूत है, लेकिन जब हम व्यवहारदृष्टिसे देखते हैं तो स्वभावदृष्टिसे निकलकर हम अगल-बगलकी बात देखते हैं तो यह समझमें आ रहा है कि अनादिकालसे ही कर्मोदयके वशसे अर्थात् उसका निमित्त पाकर यह जीव निर्विकार शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे गिर गया है। इसे शुद्धस्वरूपकी दृष्टि नहीं रही है और इसका नाना भवोंके रूपसे उत्पाद व्यय हो रहा है। उसका कारण जीवका ही स्वभाव नहीं है, किन्तु नरकगति आदिक कर्मप्रकृतियां हैं। जैसे समुद्रमें लहरें हवाके संयोगके बिना उठती हैं क्या? या समुद्र अपने आप हवा का सम्बन्ध पाये बिना क्या स्वयं ही उचकने लगता है? वहां तो वह शान्त धीर रहा करता है। उसका स्वभाव ही नहीं है कि कुछ गड़बड़ करे। वह तो जल है और वह जल भी घन है। वह तो स्वभावतः स्थिर रहेगा, किन्तु लहरोंका उत्पाद व्यय, निष्तरंग भी रहना उत्तरंग भी होना, यह बात हवाके सम्बन्ध और असम्बन्धसे है, ऐसे ही इस जीवमें ये सब पर्यायें जो डूबती हैं और उठती हैं पानीकी लहरकी तरह इसमें विभाव जो डूबते हैं और उठते हैं उसमें कारण कर्मउपाधि है। हां ऐसा डूबना और उठना जो पदार्थके स्वरूपकी रक्षाके लिए है अर्थात् अगुरुलघुत्वगुणके ही कारण जो स्वयंमें उत्पादव्यय चलता है धर्म आदिक द्रव्योंकी तरह उसमें कालातिरिक्त कोई उपाधि नहीं, किन्तु इतना बड़ा जाल बन जाय इसमें कारण तो कोई निकट पर-उपाधि है।

विभावविधिके अवगमसे कर्तव्यशिक्षा—हम इस विभावकी विधिको जानकर और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इस जालका परिज्ञान करके हम यहाँ कौनसा सारभूत तत्त्व अपनी दृष्टिमें लें, यह देखो कि शुद्ध निश्चयनयसे अपने सहजस्वभावकी दृष्टिमें जैसे यह कर्मरहित वीतराग परम आनन्दसंयुक्त चित्प्रकाशमय जो शुद्ध जीवास्तिकाय है, चित्प्रकाश है वह चित्स्वभाव ही उपादेय है। हम ऐसे सहज स्वभावरूप चित्प्रकाशका आलम्बन करें, उसको ज्ञानमें लेकर एतावन्मात्र मैं हूं, इस प्रकारकी प्रतीति करके हम सुखदुःखरहित विशुद्ध आनन्द पर्यायको प्राप्त कर सकते हैं। किसी भी परपदार्थपर गयी हुई दृष्टि इस जीवको विह्वल कर देती है। हम अपने आपमें विभावकी पकड़ न करके एक शुद्ध ज्ञानमात्र स्वभावको दृष्टिमें लें और एतावन्मात्र ही मैं हूं, ऐसी प्रतीति बनायें तो यह चारों गतियोंके परिभ्रमणका जाल नष्ट हो जायगा और अपने आप इस आत्माका जैसा स्वरूप है वही प्रकट हो जायगा। यही ईश्वरता है, ईश्वरका यही शुद्ध रूप है, इसमें ही परम आनन्द है। हम आपका मूलमें यही कर्तव्य है कि अपने आपको चित्स्वभावमात्र अनुभवमें लिया करें।

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा वहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा ॥५६॥

औदयिक, औपशमिक और क्षायिक भाव—जीवके गुण बहुत प्रकारके भेदोंमें विस्तृत हैं और वे सब उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणाम—इन ५ प्रकारके भागोंसे सहित हैं। उदय नाम है कर्मका निकलना। कर्म जब तक बन्धनमें रहते हैं, सत्त्वमें रहते हैं तब तक उन कर्मोंका विपाक भोगनेमें नहीं आता, किन्तु उदय होते समय इस जीवमें एक प्रभाव उत्पन्न होता है वह है जीवका ही प्रभाव। पर कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर यह प्रभाव उत्पन्न होता है। कर्मोंका फलदानमें समर्थ होनेके रूपसे उसकी उद्भूति न हो उसका नाम है उपशम। ये कर्म अपनी आखिरी स्थितिसे पहिले उदयमें न आ सकें इसका नाम है उपशम। आखिरी स्थितिसे पहिले उदयमें आनेका नाम उदीरणा है। उदीरणा न हो सके इसका नाम है उपशम। उन कर्मोंका फल देनेकी समर्थताके रूपसे कुछ उद्भूति होना और कुछ अनुद्भूति होना इसका नाम है क्षयोपशम। क्षयोपशममें कितनी ही प्रकारकी परिस्थितियाँ होती हैं, लेकिन उन सब परिस्थितियोंका प्रयोजन इतना ही है कि कुछ गंदगी रहना, कुछ निर्मलता रहना। ऐसा जो मिश्रित भाव है उसका नाम क्षयोपशम भाव है।

एक ही प्रकृतिमें क्षयोपशम—जैसे मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण—इन चारोंके क्षयोपशमसे मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञान प्रकट होते हैं। वहाँ क्षयोपशमका अर्थ यह है कि जैसे मतिज्ञानमें २ प्रकारके स्पर्धक हैं—सर्वघातीस्पर्धक और देशघाती स्पर्धक। स्पर्धक नाम है वर्गणाओंके समूहका। तो कुछ स्पर्द्धक, मतिज्ञानमें ऐसे हैं, जो मतिज्ञानका अभाव कर देनेके लिए समर्थ हैं, और साथमें देशघाती प्रकृतियां भी हैं जो

http://sahjanandvarnishastra.org/

मतिज्ञानका सर्वथा घात नहीं कर सकतीं, किन्तु कुछ प्रकट रहेगा, तो वहाँ सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय रहता है और आगामी कालमें जो उदयमें आ सके, ऐसा सर्वघाती स्पर्धकोंका उपशम रहता है और देशघातीका उदय रहता है, ऐसी स्थितिमें मतिज्ञान प्रकट होता है। यह मतिज्ञान, चूँकि देशघातीका उदय है इस कारण तो मलिन है और क्षय व उपशम सर्वघातीका है इससे प्रकाशित भी है। यहाँ क्षयका नाम उदयाभावी क्षय है। देखिये जीवकी महिमा, ये सर्वघाती स्पर्धक पड़े तो हैं, पर जब मतिज्ञान हो रहा है तो यह सर्वघाती स्पर्धक न की तरह हो गए। जो हैं उनका उदयाभावी क्षय हुआ और उपशम हो गया। हाँ उस समयमें अवधिज्ञानावरणके सर्वघाती स्पर्धकका उदय है। जिसके अवधिज्ञान नहीं है तो उसके अवधिज्ञानका पूरा लोप है, पर संसारअवस्थामें कोई ऐसा नहीं है जिसके मतिज्ञानका लेप हो। मति और श्रुतज्ञान ये समस्त संसारी जीवोंके होते हैं तो यहाँ क्षयोपशमका यह लक्षण बना कि उस ही प्रकृतिमें सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय और उनका ही उपशम और देशघातीका उदय है।

एक ही कर्ममें क्षयोपशम—जहाँ यह बताया जाता कि अप्रत्याख्यानावरणके क्षयोपशमसे श्रावकोंको व्रत उत्पन्न होता है वहाँ यह एक ही प्रकृतिके क्षय उपशम उदय वाला लक्षण नहीं घटित होता, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण प्रकृतिमें सर्वघाती स्पर्धक और देशघाती स्पर्धकके विभाग जैसा कार्य नहीं है। वहाँ क्षयोपशमका लक्षण यह है कि अप्रत्याख्यानावरणका उदयाभावी क्षय और उपशम तथा प्रत्याख्यानावरणका उदय ऐसी स्थितिसे श्रावकका व्रत उत्पन्न होता है। यद्यपि प्रत्याख्यानावरणका सर्वघाती प्रकट है, लेकिन श्रावकोंके व्रतके लिए तो वह सर्वघाती नहीं है। वह मुनिव्रत न होने देनेके लिए सर्वघाती प्रकृति है। तो किसी भी परिस्थितिसे क्षयोपशम बने, पर क्षयोपशमकी ये दो बातें एक साथ मिली हुई होती हैं, कुछ मलिनता और कुछ निर्मलता।

क्षायिकभाव—कर्मोंका अत्यंत वियोग हो जाना, मिट जाना, अलग हो जाना, इसका नाम क्षय है। किसी भी प्रकृतिका क्षय होता है तो उस प्रकृतिके अनुभाग और स्थितिका खण्डन करके अन्तमें क्षय होता है। किसी प्रकृतिका यों क्षय नहीं हो जाता कि पहिलेसे उसमेंसे कुछ भी छांट न की जाय और किसी समय एकदम वह प्रकृति विलीन हो जाय। पहिले निर्मल परिणामोंके कारण उस प्रकृतिके अनुभागके खण्ड नष्ट किए जाते हैं और स्थितियां नष्ट की जाती हैं। जो उनकी विधि है, संक्रमणपूर्वक भी उनका विनाश होता है, पर उस विनाशका नाम क्षय नहीं है, उसका नाम है निर्जरा। एकदेश कर्मका क्षय होनेका नाम निर्जरा है और सर्वदेश कर्मोंके क्षय होनेका नाम क्षय है, अभाव है। जब सब कर्मोंका क्षय होता है तो इतना तो कहोगे ना कि इन कर्मोंसे मुक्ति हो गयी। जैसे चतुर्थ गुणस्थानमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

में भी क्षायिक सम्यक्त्व हो तो यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है कि इन जीवोंके दर्शनमोहनीय कर्मकी मुक्ति हो गयी। उसे मोक्षअवस्था इसलिए न कहेंगे कि सर्वकर्मोंके क्षयका नाम मोक्ष है। तो ये प्रकृतियाँ क्षीण होती हुई इनका अनुभाग नष्ट करते-करते स्थितियोंको भी काटते-काटते अन्तमें जब गुण संक्रमण और सर्वसंक्रमण होता है, अंतिम फालिका भी विनाश हो जाय तब क्षय नाम कहलाता है। तो प्रकृतिका सदाके लिए अत्यन्त विप्रयोग हो जाना, इसका नाम क्षय है।

पारिणामिक भाव—परिणाम नाम है द्रव्यके स्वरूपके लाभका कारणभूत जो भाव है उसका नाम। सहज स्वभावके कारण तो वस्तुकी सत्ता बनी हुई होती है वह परिणाम सर्वथा अपरिणामी नहीं है किन्तु अपरिणामी धर्मको निरखकर देखने से अपरिणामी ज्ञात होता है। वस्तु स्वभावमात्र है और स्वभाव यदि सर्वथा अपरिणामी हो तो इसका अर्थ है वस्तु अपरिणामी हो तब वस्तुका अभाव हो जायगा, पर इस परिणामको हम एक शाश्वत और सहजरूपमें निरखते हैं तो ऐसे निरखनेमें अपरिणामीपना देखा जाता है। तो जो जीव द्रव्यके स्वरूपके लाभका कारणभूत भाव है उसको जीवका पारिणामिक भाव कहते हैं। ये ५ प्रकार की स्थितियाँ जीवमें होती हैं।

उदय और मोहमद—उदयसे संयुक्त जो भाव है उसका नाम औदयिक है। उययसे उत्पन्न हुए भावको औदयिक भाव कहते हैं। विषयोंके परिणाम, कषायोंके परिणाम ये सब औदायिक भाव हैं। इन औदयिक भावोंके कारण जीवकी कितनी बरबादी हो रही है, फिर भी यह मोही जीव उन औदयिक भावोंको ऐसे प्यारसे पकड़ता है कि यह अपनी सत्ताकी सुध भी नहीं कर सकता और उसकी दृष्टिमें जो अंत: उठा हुआ औदयिक भाव है तन्मात्र ही वह अपने आत्माका श्रद्धान किया करता है। जो यों राग करने वाला है, द्वेष करने वाला है जो कुछ यह है यही तो मैं हूं, मैं रागद्वेषसे भिन्न केवल सहज ज्ञानप्रकाशमात्र हूं इसकी सुध नहीं होती है। यही मदिरापान है। यह जीव अनादिकालसे ऐसा ही महामद पीकर मतवाला होता चला आ रहा है और जब जिस भवमें पहुंचता है उस भवमें जो समागम मिलता है वही इसके लिए सब कुछ हो जाता है। उसके आगे उसके पीछे कहीं चारों ओर कहीं भी कुछ नजर नहीं आता। केवल वे ही दो चार जीव इसके सर्वस्व बन जाते हैं। मरेंगे, पचेंगे तो उनके लिए, अन्य जीवोंके प्रति तो मानो इनमें जान है या कुछ नहीं, यों ही अनध्यवसाय-सा रहा करता है।

मोहमहामदपानसे बरबादी और कुटेव—मोहमहामद पीकर यह जीव कैसे-कैसे भ्रमण कर रहा है? ऐसी-ऐसी स्थितियाँ भी मिल जाती हैं जहाँ ज्ञानका कुछ नामसा भी नहीं जंचता। स्थावर जीव, निगोद जीव, दोइन्द्रिय आदिक जीवोंकी क्या स्थिति है? हम आप भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो इन स्थितियोंमें गये होंगे और न चेते तो इन कुयोनियोंमें अब जायेंगे। यह मोही जीव हठी बनता है तो मोहमें ही तो हठी बनता है, पर यह अपने स्वरूपकी हठ नहीं बना सकता। बाह्यपदार्थोंमें ऐसा होना ही चाहिए, इसको इस तरह कहना ही चाहिए, पालना ही चाहिए, करना ही चाहिए। न कहे, न करे तो उसपर छा जाता है, हठ करता है। किसी भी पदार्थमें कुछ भी परिणमन करनेके लिए यह जीव आग्रही हुआ करता है। परंतु मैं केवल ज्ञानप्रकाश-मात्र हूं ऐसी सच्ची समझके लिए यह आग्रह नहीं करता है। बाहरी-बाहरी विकल्पोंके लिए इसके बड़े-बड़े आग्रह चलते हैं। जो कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर भाव उत्पन्न हुए हैं उनका नाम औदायिक भाव है।

अज्ञानीकी औदयिक भावमें आस्था—इन औदायिक भावोंका अज्ञानी जीवको बहुत विश्वास बना हुआ है। इतना विश्वास कि उसके मुकाबलेमें इसे गुरुवचनपर विश्वास नहीं है। ये शास्त्र, ये गुरुवचन बारबार समझाते हैं तू यथार्थस्वरूपकी परख कर, उस ओर तू दृष्टि बना, वहाँ तुझे अद्भुत आनन्द प्रकट होगा, यह बात सुन ली जाती है और चूंकि लोकमें ऐसा व्यवहार चल रहा है कि धर्मकी बात यदि कहे सुने तो उसमें बड़प्पन साबित होता है। उस बड़प्पनको रखनेके लिए धर्मके नामपर ये चर्चाएँ भी कर ली जाती हैं और सुन ली जाती हैं, किन्तु विश्वास बना है उस औदयिक भावपर और यह चर्चा, ये धर्मक्रियाकी बातें ये सब मानसिक सुख बनानेके लिए की जाती हैं। जिस क्षण इस जीवको औदयिक भावपर हित-कारिताका विश्वास न रहे और अन्तरङ्ग रुचिसे देव, शास्त्र, गुरुपर श्रद्धान जगे; देव, शास्त्र गुरुके स्वरूपपर पद्धतिपर इसका श्रद्धान चले तो समझना चाहिए कि उस क्षणसे इसके जीवन में प्रकाश उत्पन्न हुआ है। यही एक काम इस दुर्लभ मनुष्यजीवनको पाकर करनेका है। बाहरी बातोंमें क्या रक्खा है?

समागमके लगावकी व्यर्थता—भैया! जो औदयिक भाव हैं उनपर ही इस मोहीका विश्वास हो इतना ही नहीं है किन्तु औदयिक जो बाह्य समागम हैं, धन वैभव जड़ सम्पदा उन समागमोंपर भी इसे बहुत विश्वास है। यह मनुष्य अपने इस जीवनसे जीकर और बड़ी बड़ी सम्पदा इकट्ठी करके आखिर अन्तमें करेगा क्या? शायद कोई यह कहे कि करेंगे क्या, अपने बच्चोंके लिए सब छोड़ जायेंगे और वे बड़े आनन्दसे रहेंगे। अरे गुजर जानेके बाद तुम्हारे फिर कौन बच्चे हैं? अनन्तानन्त जीव हैं, उनमें ही अब शुमार हैं वे सब। जैसे और हैं तैसे ही ये रहेंगे। इस जीवको अपने आपके भावोंपर जो आत्मलाभका हेतुभूत है उस पर श्रद्धान नहीं है। कर्तव्य यह है कि हम ऐसा ज्ञान बनाएँ, ऐसा सत्संग करें, ऐसा अपना व्यवहार बनायें; अपनी न्यायकी वृत्ति रक्खें, सदाचारका आदर करें। शुद्धदृष्टिके लिए उत्सुकता जगे, जिससे हम औदायिक भावोंके श्रद्धानरूप महाबन्धनसे छूट जायें और अपने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वरूपकी ओर आ सकें।

औपशमिकभावका संक्षिप्त विवरण—जो कर्मोंके उपशमसे युक्त भाव है उस भावका नाम औपशमिक भाव है। कर्मोंके ठहरनेका जो काल है उस कालसे पहिले ये कर्म उदीरण रूपमें आ सकें उसीका नाम उपशम है। यह उपशम आत्माके निर्मल परिणामोंसे उत्पन्न होता है। कोई कर्म आगे उदयमें आनेको थे, उसे उदयमें ला दे यह तो जीवके बिगाड़के लिए बात है ना? ऐसा न करने दे, न होने दे, इस बातके लिए आत्मामें निर्मल परिणामोंकी आवश्यकता है और उस आत्मनिर्मलताके कारण कर्मोंमें यह परिस्थिति आ जाती है कि वह कर्म कालसे पहिले विपाकमें नहीं आ सकता। इस ही का नाम उपशम है और उस उपशमसे युक्त जो परिणाम है उस उपशमका निमित्त पाकर जीवमें जो परिणाम हो उसका नाम औपशमिक है। औपशमिक भाव दो प्रकारके होते हैं, एक उपशम सम्यक्त्व और दूसरा उपशम चारित्र। उपशम सम्यक्त्व तो चौथे गुणस्थानसे लेकर सप्तम गुणस्थान तक रहता है और उपशम सम्यक्त्वका जो द्वितीय भेद है द्वितीयोपशम उसकी उपेक्षा ११वें गुणस्थान तक रहता है और उपशम चारित्र पूर्णतया ११वें गुणस्थानमें प्रकट होता है। आंशिक रूपसे ९वें और १०वें में प्रकट होता है। ८वें गुणस्थानमें भी उपशमकी तैयारीमें औपशमिक चारित्रकी दृष्टिसे औपशमिक भाव कहा है।

उपशमका वर्तमान और भावी आश्चर्य—जीवके ये परिणाम हैं, किस-किस जीवमें क्या-क्या स्थितियाँ गुजरती हैं, अपनी ही बात इसमें कही जा रही है। औपशमिक सम्यक्त्व में सम्यग्दर्शन निर्मल रहता है, क्योंकि सम्यक्त्वके घाती जो ७ प्रकृतियां हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, इन ७ प्रकृतियोंका उपशम है और वह उपशम भी अन्तरकरणपूर्वक है, यह उसकी खास विशेषता है। जैसे किसी वकीलकी यह इच्छा है कि भादोंकी दसलाक्षणीमें हमें कचहरी न जाना पड़े तो उसके लिए वह एक महीना पहिलेसे ही यह उद्यम करता है कि उन दिनोंमें कोई तारीख पड़े तो जजसे कहकर कोशिश करके उस तारीखका दिन पहिले या बादमें लगवा देता है। और कभी पहिलेसे दस लाक्षणीमें लगी हुई तारीख हो तो उसे पहिले या आगे करा देता है। दस-लाक्षणीके दिनोंमें वह तारीख ही न हो कचहरी जानेकी। इसी तरह यहाँ जिस कालमें औपशमिक भाव रहेगा उस कालमें जो पड़ी हुई कर्मस्थितियां हैं उन स्थितियोंको कुछ पहिले डाल देता है, कुछ आगेके कालमें डाल देता है, उतने कालका सत्त्व तक भी नहीं रहता है। जिस समयमें औपशमिक भाव हो रहा है औपशमिक सम्यक्त्व, उस समय दर्शनमोहनीय अनन्तानुबंधीका सत्त्व तक भी नहीं है। औपशमिक चारित्रमें भी चारित्रमोहके अन्तरकरणपूर्वक चारित्रमोहका उपशम हो जाता है। इतना निर्मल परिणाम है यह। लेकिन कर्मोंका उपशम

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करके बना है तो जब उपशम काल समाप्त हो जाता है तब इसे उसी चक्रमें फिर जाना पड़ता है। यह आत्मा अपनी निर्मलताके कारण इतनी भी अच्छी स्थिति पा लेता है और फिर गिर जाता है।

क्षायोपशमिक, क्षायिक व पारिणामिक भावकी व्याख्या—कर्मोंके क्षयोपशमका निमित्त पाकर जो आत्मामें भाव होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इसमें कुछ निर्मलता है, कुछ मलिनता है। यह क्षायोपशमिक भाव प्रत्येक संसारी जीवोंके पाया जाता है। जैसे कोई संसारी ऐसा नहीं है जिसके उदय बिल्कुल नहीं रहे, इसी तरह कोई संसारी जीव क्षायोपशमिक भाव बिना भी नहीं रहता। औपशमिक भाव किसीमें होता और किसीमें नहीं होता। कोई विरला ही जीव अनन्तवें भागका ऐसा है जो औपशमिक भाव पा लेता है। औपशमिक भाव बिना अनन्तानंत संसारी जीव पड़े हुए हैं। कर्मोंके क्षयसे युक्त परिणामका नामक दायिक है अथवा कर्मोंके क्षयका निमित्त पाकर जो जीवमें भाव उत्पन्न होता है उसे क्षायिकभाव कहते हैं। जैसे ज्ञानावरणके क्षयसे केवलज्ञान प्रकट होता है, ऐसे ही दर्शनावरणके क्षयसे केवल दर्शन प्रकट होता है, जितने भी अरहंत भगवानके परिणमन हैं वे सब क्षायिक भाव हैं। क्षायिक भाव प्रकट होनेके बाद तो अनन्तकाल तक ये परमात्मा ही रहेंगे। पारिणामिक भाव कहते हैं परिणामसे सहित भावको अथवा कर्मोंके उदय उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखकर केवल जीवद्रव्यमें आत्मलाभका हेतुभूत जो भाव है उसका नाम पारिणामिक भाव है।

भाववर्णनका उपसंहार व उपादेयताकी शिक्षा—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक व पारिणामिक—ये ५ जीवके गुण हैं। इन ५ गुणोंमें चार तो उपाधिनिमित्तक हैं। औदयिकभाव हैं तो कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर होते हैं। औपशमिक भाव कर्मोंके उपशमका निमित्त पाकर होते हैं। क्षायिकभाव भी कर्मोंके क्षयका निमित्त पाकर होता है और क्षायोपशमिक भाव कर्मके क्षयोपशमके निमित्तसे होता है। यद्यपि क्षायिकभाव निर्मल है और सद्भावरूप निमित्तसे नहीं होता, लेकिन इस भावमें जो क्षायिकता होता है वह नैमित्तिक है। इसमें चार परिणाम तो उपाधिनिबंधनक हैं, किन्तु स्वभावनिबंधनक परिणाम केवल एक है और वह है पारिणामिक भाव। आत्मामें आत्माके ही सत्त्वके कारण जो सहजस्वभाव है उसका नाम पारिणमिक भाव है। इन ५ प्रकारके परिणामोंमें से जो पूर्वके चार गुण हैं वे तो और और भी भावोंको लिए हुए हैं। स्वरूपभावसे और उपाधि भावसे इन ५ में भी अन्तर है, पर उन चारके और भी प्रभेद होते हैं। पारिणामिक भाव एक स्वरूप है। वह केवल एक सहज स्वभावका संकेत करता है। सहज स्वभावमें कोई भेद नहीं पड़ता। वह भेदरहित है। इस प्रकार इस कर्तृत्वके अन्तराधिकारमें भावका वर्णन किया और चूँकि आगे कर्तापन बतायेंगे उसमें इन भावोंकी जानकारी करनेसे कर्तृत्वका विवरण समझमें आवेगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इस कारण यहाँ इन भावोंका वर्णन किया है। अब आगेकी गाथामें कर्तृत्वका स्पष्ट विवरण आयगा।

कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं।
सो तेण तस्स कत्ता हवदित्ति य सासणे पढिदं ॥५७॥

व्यवहारनयसे जीवका कर्तृत्व व भोक्तृत्व—उदयमें आये हुए द्रव्यकर्मका अनुभवन कराने वाला यह जीव जैसे अपने परिणामको करता है उस ही प्रकारका यह आत्मा कर्ता होता है। ऐसा जिनेन्द्रभगवानके शासनमें तत्त्ववेदियोंने बताया है। किसी परपदार्थके निमित्तसे इस जीवमें कुछ अनुभवन बने अथवा किसी परपदार्थका आश्रय करके, विषय करके जीवमें कुछ अनुभवन बने तो परका कर्मका अनुभवनकर्ता यह जीव है, ऐसा व्यवहारनयसे कहा जाता है। निश्चयसे तो जीव अपने आपमें उत्पन्न हुए परिणमनोंका कर्ता है! जीव तो इस संसारमें निश्चयनयसे कर्मजनित रागादिक भावोंका ही कर्ता है। चूंकि यह रागादिक भाव स्वयं अपने आपके सत्त्वके कारण जीवमें नहीं हुआ करता है। होता तो अपने ही परिणमनमें है, किन्तु किसी परपदार्थको निमित्त पाये बिना यह नहीं हुआ करता है। अतएव व्यवहारनय से ऐसा कहना युक्त ही है कि यह जीव कर्मोंके फलको भोगता है।

कर्मबन्ध और कर्मफल—जीव जिस प्रकारका भाव करता है और उस भावसे जिस प्रकारका कर्मबंध हुआ है वह कर्म बंधकर सत्तामें रहता है और जब उसका विपाक काल होता है तब जीव उसके अनुरूप अपनेमें विभाव करता है। उनका फल पाये बिना निपटारा कर लेना बड़ा कठिन है। भले ही किसी परिस्थितिमें पुण्यका उदयविशेष है तो अपनी खोटी करनी असर न दिखाये और कोई यह समझे कि हम यह सब गुप्त ही तो कर रहे हैं, कोई न्याय, कोई असत्यव्यवहार किया जा रहा है और उसका कोई प्रत्यक्ष फल नहीं मिल रहा बल्कि सम्पदा बढ़ रही, आराम बढ़ रहा आदिक और अभीष्ट फल उसे मिल रहे हैं, लेकिन जो बाँधा है कर्म वे भोगे बिना निर्जीर्ण नहीं होते। कोई विशिष्ट महात्मा संत ही किन्हीं कर्मोंको भोगे बिना उसे निर्जीर्ण करदे ऐसी शक्ति रखते हैं, किन्तु प्रायः ऐसा होता नहीं है। जो करनी की है, जो कर्मबंध किया है उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है।

देर है अन्धेर नहीं—एक पुरुषके कोई संतान न थी तो उसे किसी ने यों बहका दिया कि देख यदि तू किसी बालककी बलि करदे तो तेरे बालक हो जायगा। उसने कोई अवसर पाकर किसी बालककी बलि कर दी। खैर, कुछ दिन उसका उदय ठीक चला, पूर्वकृतकर्मसे उसके बालक हो गया, धन वैभव बढ़ गया। एक गाँवका बड़ा जमीदार कहलाने लगा। उसकी गाँवमें बड़ी चला हो गयी। किन्तु कुछ ही समय बाद वह वैभव भी नष्ट हो गया। स्त्री पुत्र सब खतम हो गए। भिखारी बन गया, अकेला रह गया। अब उसे कुछ बोध जगा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि मैंने बहुत खोटा कार्य किया था, उस बालककी हत्या कर दी थी, उसके दिमागमें उस बातका एक बहुत बड़ा पछतावा हुआ। उसका दिमाग कुछ चलित-सा हो गया। अब वह दिन रात यही कहता फिरे कि देर है अंधेर नहीं, सिवाय इसके और कुछ न बोले। लोगोंने उसे पागल मान लिया। अथवा कुछ पागल-सा ही समझ लीजिए। यही चिल्लाता फिरे, देर है अंधेर नहीं। उस शहरका जो सूबेदार प्रधान पुरुष था उसके महलके पाससे यह कहता हुआ जब कई बार गुजरा तो सूबेदारने उसे बुलाया। बुद्धिमान था सूबेदार, बड़े आरामसे खूब खिला-पिलाकर रखकर ५-६ दिन बाद उसने पूछा कि भाई क्या बात है जो तुम देर है अंधेर नहीं, ऐसा कहते हो? तब उस पुरुषने सारा हाल कह सुनाया। मैंने एक बालककी बलि की थी अपनेको सुखी रखनेके लिए। कुछ समय तो सुखसे गुजरा, अन्तमें बहुत बुरी हालत हो गयी, तो मुझे तो यही जंचा कि कोई पापकर्म करे तो उसका फल अवश्य मिलता है, चाहे देर हो जाय, पर अंधेर नहीं है।

सावधानीका यत्न—जो आज थोड़ीसी सम्पदाकी तृष्णामें और अन्य प्रकारके स्वार्थों में या विषयसाधनोंमें जैसा चाहे बर्ताव किए जा रहे हैं, दगा देना, झूठ बोलना, झूठ लिखना, कुछ कहना, कुछ सोचना, कुछ बताना, अनेक प्रकारके मायाचार अनेक व्यवहार किये जाते हैं किन्तु यह समझसे ओझल न करना चाहिए कि जो भी हम करते हैं उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। ऐसा निर्णय रक्खें और अपनेको सावधान बनायें कि खोटी परिणतियोंमें अपना उपयोग न फंसे। सम्यग्दर्शन जागृत रखें। मेरा स्वभाव, मेरा स्वरूप सबसे न्यारा ज्ञानमात्र है, वही मैं हूं और ऐसा ही अपनेको निरखनेसे अपना कल्याण है। अपनेको रागादिक रूप, अनेक कर्मफलरूप परपदार्थरूप शरीररूप निरखनेमें कुछ भलाई नहीं है, ऐसा अपनेको सावधान बनाएँ और ऐसी ही दृष्टि बनाये रखनेके लिए हम व्यावहारिक कुछ प्रयत्न करें जिससे इसके विपरीत विषयकषायोंका हमपर आक्रमण न हो सके।

कुदेवपूजापरिहारकी आवश्यकता—देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान यह तो धर्ममें सर्वप्रथम आवश्यक है। जिसे सच्चे देवका निर्णय नहीं है वह धर्म क्या पालन करेगा? जो रागी द्वेषी अपनो मनचाही चीज देने वाला ऐसा देवका स्वरूप मानता है उसकी धर्ममें कहाँ गति है? कुछ मुकदमेकी विजय चाहना, धनका लाभ चाहना, विवाह चाहना, संतान चाहना, किन्हीं बातोंकी इच्छासे जिस चाहे रागी देवी देवतावोंकी मान्यता करना, भूत-प्रेत, व्यन्तर, यक्ष इनकी उपासना करना, और की तो बात क्या, इस इच्छासे तीर्थंकरका नाम लेकर भी उन्हें पूजना, महावीर जी पूज रहे हैं, अन्य क्षेत्रकी वन्दना कर रहे हैं। अरे वन्दना किसकी कर रहे हो? एक खोटा आशय लेकर कोई तीर्थपर जावे तो वहाँ इस ज्ञानस्वरूपमात्र इस कैवल्यस्वरूप आत्मतत्त्वपर कुछ दृष्टि भी है क्या? मोक्षमार्गकी ओर कुछ दृष्टि भी है क्या?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं है तो धर्म कहाँ रहा ?

मोहियों द्वारा देवमें भी कुदेवत्वकी जबर्दस्ती—भैया ! चाहे दरिद्रताकी भी कितनी ही कठिन स्थिति आये, पर किसी देवसे यह बिनती करना कि मुझे अच्छे साधन मिलें, मुझे वैभव सम्पदा मिले, इस मलिन आशयको लेकर कोई किसी देवकी आराधना करे तो यह उसकी अज्ञानता है। ज्ञानी पुरुष इस आशयसे भगवानको नहीं पूजते। भगवानमें जो बात है जो स्वरूप है उस स्वरूपको निरखकर ही भगवानको पूजते हैं। किसीके पुण्यका उदय हो तो उसके पुण्यके उदयसे मनचाही चीज उसे भगवानकी पूजा करनेसे मिल जाती है। कोई यह कहे कि देखो हमने महावीर स्वामीसे अमुक चीज मांगी सो मिल गई, ऐसी बात नहीं है। क्या कोई यह नियम है कि जो भगवानकी पूजा करे, आराधना करे, उसके मनचाही चीज उसे प्राप्त ही हो जाय। देखा तो इसका उल्टा भी जा रहा है। जो महावीर स्वामीके विरोधी हैं, जो इस ओर जरा भी चित्त नहीं करते, धर्मकी ओर जिनका चित्त भी नहीं है ऐसे बहुतसे लोग व्यवहारमें सम्पन्न और आराम वाले निरखे जाते हैं। यह तो पूर्वकृत सुकृतका फल है। और कभी मनचाही बात न हुई तो महावीर स्वामीमें विश्वास भी नहीं रहता। यह तो कुछ नहीं है और कभी मान लो उस मनौतीसे बालक पैदा हो गया तो यह कहेंगे कि देखो प्रभुने बालक दिया है और वह मर जाय तो कहते हैं कि देखो अब महावीर जीने मार डाला है। क्या-क्या विकल्प, क्या-क्या कल्पनाएँ इस जीवनमें बना-बनाकर इसको यों ही खोया जा रहा है। अरे आत्मन् ! तू अकेला है, अकेला ही था, अकेला ही रहेगा। इस समय भी तेरा कोई दूसरा नहीं है। तू अपने इस अकेले चेतनकी कुछ भी दया नहीं करता।

निजभावपर भवितव्यकी निर्भरता—अगला काल कैसा व्यतीत होगा ? यह सब तेरी कलापर ही निर्भर है। जैसे करीब-करीब शरीरको सुधार लेना, बिगाड़ लेना, रोगी बना लेना, निरोग बना लेना, यह अपनी कलापर निर्भर है। यह बात करीब-करीब है, चूँकि शरीर परद्रव्य है। वहाँ कोई नियम नहीं है, अधिकार भी शरीर पर कुछ नहीं है, पर यह बात यहां करीब-करीब देखी जाती है, पर मेरा मेरे भवितव्यपर तो पूरा अधिकार है। मेरा जैसा भाव होगा उसके अनुसार ही तो मेरी सृष्टि होगी। हम अपनेको सुखी करना चाहें तो सुखी करनेकी भी हममें ही कला है, दुःखी करना चाहें अर्थात् दुःखी होनेकी पद्धतिसे चलें तो दुःखी होनेकी कला भी हममें ही है और विशुद्ध आनन्दका अनुभव करनेके उपयोगमें आयें तो ऐसा अनुभव करनेकी कला भी हम ही में है। हम अपने आपको सावधान बनायें और सत्य श्रद्धानसे चलें।

सच्चा देव—सच्चा देव वही होता है जो निर्दोष है, सकल गुणसम्पन्न है। जिसमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

एक भी दोष नहीं है और गुणोंका पूर्ण विकास है वही सच्चा देव है। हम ऐसे देवको क्यों पूजें ? इसलिए कि ऐसा ही मेरा स्वभाव है, ऐसा ही मैं बन सकता हूं और ऐसा ही अपना भाव भरनेके लिए हम सच्चे देवके स्वरूपपर दृष्टि किया करते हैं। भगवानको माननेके दो ही कारण हो सकते हैं—एक तो यह हो सकता है कि भगवान मुझे सुखी कर देगा तो चलो भगवानको माने। एक यह हो सकता है कि भगवान जैसे हम भी बन सकते हैं, इसलिए भगवानके स्वरूपकी उपासना करके अपने गुणोंको विकसित कर लें। इन दो बातोंमें से पहिली बात तो है नहीं, इसका कारण यह है कि कोई भी परद्रव्य किसी परद्रव्यका कुछ करने वाला नहीं हो सकता। वस्तुके स्वरूपमें ही यह बात नहीं है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कुछ कर सके। हाँ यह दूसरी बात अवश्य है। प्रभु चेतन हैं, हम भी चेतन हैं, स्वयंकी समानता है। हमारे भी दोष कभी कम होते, कभी और भी कम हों, जो उपाधि पाकर हुआ करते हैं और उनमें कमी नजर आये तो निश्चय रक्खो कि उन दोषोंका कभी सर्वथाके लिए अभाव भी हो सकता है। और जो उपाधिके दूर होनेसे कुछ विकास बढ़ता है तो उसमें यह निर्णय रक्खो कि यह विकास कभी पूर्ण भी हो सकता है। जो निर्दोष है और सकल गुणसम्पन्न है वही हमारा देव है, वह चाहे ऋषभदेव हों, चाहे महावीर स्वामी हों, चाहे श्री राम हों, किन्हीं भी शब्दोंमें कह लो, प्रभुके नाममें, प्रभुकी उपासनाके प्रसंगमें नाम की मान्यता नहीं है, नामका जिक्र नहीं है, नामका सम्बन्ध व्यवहार अवस्थासे है। हम जब सही स्वरूपमें निरखना चाहते हैं प्रभुको तो वहां नाम नहीं है। जो निर्दोष हो और सर्वगुण-सम्पन्न हो ऐसा प्रभु ही हमारा सच्चा देव है। उसकी श्रद्धा हो।

सत् शास्त्र और सद्गुरु—सच्चे देवके प्रसंगसे जो उपदेश हमें प्राप्त होते हैं वे सच्चे शास्त्र हैं। जिसमें निर्दोष होने और गुणसम्पन्न होनेकी कला लिखी है, उपाय बताया है वही सच्चा शास्त्र है। और उस उपायपर जो अपनी शक्तिको न छिपाकर चल रहे हैं, उस मार्ग पर बढ़ रहे हैं, निर्ग्रन्थ, निरारम्भ ज्ञानरत होकर जो इस आत्मतत्त्वके विकासमें लग रहे हैं वे हमारे सच्चे गुरु हैं।

कार्यसिद्धिमें देव शास्त्र गुरुका आश्रयण—देखो किसी भी काममें सफलता पानेके लिए देव, शास्त्र, गुरुका सहारा लिए बिना काम नहीं चलता। ये धर्मके देव हैं, धर्मके शास्त्र हैं, धर्मके गुरु हैं। संसारके काम भी कोई किए जायें तो उनमें भी उस कामके देव, उस कामके शास्त्र और उस कामके गुरु—इन तीनका सहारा वहाँ भी लेना होता है। मान लो आप व्यापारमें कुशल बनना चाहते हैं तो आपकी दृष्टि किसी न किसी ऐसे व्यक्तिपर जरूर रहती होगी जो कुछ व्यापारमें बहुत ऊँचा कार्य करने वाला है और विशेष धनी है। जिसको दृष्टिमें लेकर आपके चित्तमें यह बात रह सकती है कि मुझे ऐसा बनना है। जैसे धर्मीपुरुष

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

धर्मके देवको दृष्टिमें लेकर यह भावना करता है कि मुझे यह देव बनना है । यों ही एक धनार्थी धनके प्रसंगमें किसी समृद्धिशालीको अपनी दृष्टिमें रख रहा है । जिसका केवल एक सोचना ही सहारा हैं मुझे ऐसा बनना है और फिर उस प्रकारकी विधियां लिखे कागजात पुस्तक अध्ययन वे सब व्यापार या धनसंचयके कर्तव्यमें शास्त्र हुए और फिर जिससे रोज काम पड़ सकता है, जो अपने निकट अपनेसे कुछ बड़े लोग हैं वे उस विषयके गुरु हुए। कोई-सा भी काम करो, देव, शास्त्र, गुरु ये तीन बातें हर काममें आ पड़ती हैं ।

भोजनविधिमें भी पूर्णसाधक साधनावचन व उस्तादकी आवश्यकता—किसीको रोटी बनाना सीखना है तो उसकी नजरमें कोई एक व्यक्ति ऐसा जरूर रहता है जो सबसे बढ़िया रोटी बना लेता है । देखो इस जैसी रोटी बनाना है—यह ध्यानमें रहता है । अब किसी की किसीपर निगाह रहे । और फिर वह कैसे रसोई बनाई जाय उसके शब्दोंको भी सुनता है—भाई एक घंटा पहिलेसे आटा गूमकर रख लो और फिर बनाते समय उसको एक बार मसल लो । उसे बहुत गीला होना चाहिए जो कि पीछेसे पुनः गीला करनकी जरूरत न पड़े । यों पो लो, यों तवापर डालो । पहिले पर्तको जल्दी उठा लो, दूसरे पर्तपर कुछ ज्यादा आँच लगना चाहिए, फिर उठाकर दहकती हुई आगपर डाल दो । उसे जल्दी ही पलटते जाओ ताकि कोई छिद्र न हो जाय । किसी छिद्रसे हवा निकलने लगे तो उसे चिमटेसे दबा दो । जो कुछ बतावेंगे वही उस विषयके शास्त्र हो गए । और वचन भी मिल जायें, व नजरमें चाहे रोटी बनती भी देखी हैं कि यों बनती हैं, पर कोई उस समय बनानेकी प्रक्रिया न सिखाये तो कैसे वह बनायेगा ? तो जो रोटी बनाना सिखाने वाला हुआ वह गुरु हो गया । तो देव, शास्त्र, गुरुके बिना किसी काममें पूरा पड़ता है क्या ?

संगीतशिक्षणमें संगीतके देव शास्त्र गुरुका आश्रय—किसीको संगीत सीखना है तो संगीत सीखने वालेके चित्तमें कोई एक ऐसा व्यक्ति नजरमें रहता है कि मुझे ऐसा बनना है, इस प्रकारका बाजा बजाने वाला बनना है, इस तरहका गायन करने वाला बनना है । वह उसके संगीतका देव हुआ और संगीतकी विधियां जिन किताबोंमें लिखी हैं—सा रे गा मा पा धा नी सा, सा नी धा पा मा गा रे सा; सरेगा, रेगामा, गामापा, पाधानी, धानीसा आदिक अनेक प्रकारके सरगम स्वरोंका और उसमें यह तीव्रसे बोलना यह मंदसे बोलना इस प्रकारके संकेत लिखे हों, आरोह अवरोहकी प्रक्रियाएँ लिखी हों या कोई मुखसे बतावे तो वे संगीतके शास्त्र हुए । इतनेपर भी मुहल्लेका गानेका सिखाने वाला अवश्य होना चाहिए । उस देवको कहाँसे लायें, शायद जिन्दगीभर भेंट भी न हो सके, काम तो उस्तादोंसे पड़ेगा, वही उसका गुरु हुआ । तो जरा-जरासी लौकिक बातें भी जब देव, शास्त्र, गुरुके बिना सफल नहीं होतीं भला तो मोक्ष पाने जैसा इतना महान कार्य और उसे स्वच्छन्दतासे पा लें, यह कैसे हो सकता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है ? मोक्ष तो मोक्षके ही ढंगसे चलकर पाया जा सकता है ।

धर्मफलसिद्धिमें धर्मके देव शास्त्र गुरुका आलम्बन—धर्मके देव, धर्मके शास्त्र, धर्मके गुरु–इनका शुद्ध श्रद्धान होना आवश्यक है । यह एक पहिली बात धर्मपालनके लिए कही जा रही है । इसके अतिरिक्त अपना आचरण साधारणतया त्याग और उदारताका होना ही चाहिए । विशेष तपश्चरण न कर सके, त्याग न कर सकें, बड़ी उदारता न पा सकें, लेकिन एक साधारण उदारता त्याग तपश्चरण जिसमें मोटे पाप तो न हों, इतनी बात तो होना आवश्यक ही है । यों हम सत्य श्रद्धान और साधारणतया भले चारित्रका पालन करके हम अपने जीवनमें उन्नतिके लिए बढ़ें । जो हम करते हैं उसका परिणाम हमें अवश्य भोगना पड़ेगा । हम भले कार्य करेंगे तो भला फल पायेंगे, बुरे कार्य करेंगे तो बुरा फल पायेंगे । जैसे कर्म करते हैं उसके विपाककालमें उसके अनुरूप फल भोगना होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवके शासन में सभीने पढ़ा है ।

प्राकरणिक शिक्षा—भैया ! इन पाये हुए समागमोंपर, इन परिजन कुटुम्बीजनोंपर मोह मत करो, विश्वास मत करो, इन्हें ही सर्वस्व मत मानो, क्योंकि ऐसा माननेसे कुछ सिद्धि न होगी, दुःखी होना पड़ेगा ? जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग नियमसे होगा । संयोगके समयमें जितना मौज माना गया उससे कई गुणा अधिक दुःख वियोगके समय भोगना पड़ेगा । इसलिए सब दशावोंमें समान वृत्तिसे रहें और अपने यथार्थश्रद्धान, यथार्थज्ञान, यथार्थआचरण रखकर अपने इस दुर्लभ नरजीवनको सफल बनाएँ और शक्तिकी धारा हमारी वृद्धिगत बनी रहे, ऐसी सावधानी अपनी बर्तें इसमें ही कल्याण हैं, क्योंकि करनीका फल अवश्य भोगना पड़ेगा । हम शुभ और शुद्ध कार्योंमें अपना उपयोग लगायें ।

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा ।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥५८॥

कृत्रिमता व अकृत्रिमता—द्रव्यकर्मके बिना अर्थात् द्रव्यकर्मकी किसी अवस्थाका सन्निधान हुए बिना आत्माका उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम भाव नहीं होते हैं, इस कारण इन भावोंको कर्मकृत कहा गया है । जीव अपनी सत्ताके कारण अपने आप एक ज्योतिस्वरूप है, प्रतिभासस्वरूप है, और इस प्रतिभासस्वरूपताके कारण स्वयं आनन्दमय है । जब इस प्रतिभासस्वभावमें उपयोग आता है, तब शान्तिका अभ्युदय रहता है । अन्य उपाधिकी किसी अवस्थाके कारण कुछ नवीन बात जगती है, स्वभावसे विपरीत बात बनती है तो इस जीवके ये भाव कृत्रिम कहलाने लगते हैं । पदार्थमें जो स्वभाव पड़ा है वही बात उसमें जगे वह अकृत्रिम है । जो बात नहीं है वह उत्पन्न हो तो वह कृत्रिम है । तो जीवमें एक चैतन्यस्वभाव तो अकृत्रिम है, शाश्वत है, निरपेक्ष है, अपनी ही गांठकी बात है और औदयिक भाव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ये कर्मकृत हैं। ये भाव जीवमें जीवके कारण स्वभावसे नहीं होते, कर्मका उदय हुए बिना क्रोधादिक कषायें नहीं जगतीं, इस कारण ये औदयिक हैं।

पराधीन कार्यमें अरुचिकी प्रकृति—भैया ! आप सबकी ऐसी प्रकृति है कि जो बात पराधीन होती है उसमें आप दिल नहीं लगाते, उसकी चाहमें अधिकार नहीं समझते और इसी कारण व्यापार आदिक मामलोंमें आप यह तसल्ली रखा करते हैं कि इस मामलेमें हम कहीं दूसरेके आधीन फंस तो न जायेंगे ? हमारे हाथके तो नीचे रहेंगे न सब काम ? ऐसी प्रकृति पड़ी हुई है। मेरे आधीन मेरा सब ऐश्वर्य रहे, उसमें आप सन्तोष मानते हैं और जो बात परके आधीन बन जाय। जैसे बिना लिखा-पढ़ी करे उसे आप हजार दो हजार रुपये दे दें तो आप अब परके आधीन हो गए। उसकी मर्जी आये तो बताये कि मैंने लिया, न मर्जी आये तो न बताए। ऐसी भी बात की जा सकती है। आप लिखा लेते हैं अथवा कुछ मावजा रख लेते हैं तो सन्तोष करते हैं, अब अपने अधिकारकी बात है। भला यह बतलावो कि ये औदयिक भाव, ये विषयकषाय, ये विकार, ये मंसूबे, ये सब आपके आधीन बातें हैं या पराधीन हैं ? सब पराधीन बातें हैं। जैसा उदय हो, जैसा भवितव्य हो, सुयोग हो, होता है, आपके आधीन उसमें कुछ नहीं है। लेकिन कोई पराधीन बातोंमें ही बैठे-बैठे सन्तोष माना करे तो उसे लोग बुद्धिमान नहीं कहते। ऐसे ही इन पराधीन भावोंमें जो लोग सन्तोष माना करें—मैं बहुत पुण्यवान हूं, मैं बहुत उत्कृष्ट हूं, बुद्धिमान हूं, चतुर हूं, यों कोई सन्तोष किया करे तो उसे फिर कोई ज्ञानी पुरुष बुद्धिमान कह सकेगा क्या ?

कृत्रिमताके सन्तोषका धोखा—ये औदयिक भाव कर्मोंके उदयके बिना नहीं हुआ करते। यद्यपि कर्मोंका द्रव्यकर्मका गुण, द्रव्यकर्मकी पर्याय कुछ भी इस जीवमें नहीं पहुंचती है। कर्मोंकी परिणति और गुणोंका कुछ भी इस जीवमें सम्बन्ध नहीं है फिर भी ऐसा निमित्त-नैमित्तिक योग है कि कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर इस जीवमें ये विषयकषायोंके परिणाम हो जाते हैं। इनसे जो अपनी पोजीशन मान लेता हो, उसमें सन्तुष्ट होता हो, वह सब उसके लिए धोखेकी बात है। ये भाव कर्मकृत कहे जाते हैं।

औपशमिक भावकी कर्मकृतता—इस ही प्रकार जीवमें जो औपशमिक भाव हैं अर्थात् विषयकषायोंके उत्पन्न करने वाली प्रकृतियोंका उपशम होने से जो निर्मलता प्रकट होती है उस निर्मल परिणामका भी विश्वास नहीं है। वह निर्मलता भी निमित्त दृष्टिसे पराधीन है। जब तक कर्मोंका उपशम है, कर्म दबा है, तब तक यह निर्मलता है। कर्मोंका उपशम दूर हुआ कि निर्मलता नष्ट हो जायगी। यों यह निर्मलता भी पराधीनतामें आ गयी। औपशमिक भाव भी कर्मके उपशमरूप कर्मकी अवस्था हुए बिना नहीं हुआ करता है। अतः औपशमिक भाव भी कर्मकृत कहा गया है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्षायिक व क्षायोपशमिक भावकी कर्मकृतता—कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाले परिणामका नाम क्षायिक भाव है। यह भाव भी चूँकि कर्मोंके क्षयका निमित्त पाकर हुआ है अतएव कर्मकृत है। क्षायिक भावमें जो विकास है और जो विकास चलता रहेगा वह यद्यपि पराधीन नहीं है किन्तु वह भाव कैसे विकसित होता है उसके उत्पादकी विधिपर दृष्टि डाल कर निहारनेसे यह क्षायिक भाव भी कर्मकृत हो गया। कर्मके क्षयका निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार क्षायोपशमिक भावके कुछ कर्म दब जायें, कुछ कर्म उखड़े रहें ऐसी स्थिति में आत्माको कुछ निर्मलता है, कुछ मलिनता है, ऐसा जो मिश्रण है वह मिश्रण भी कर्मोंके क्षयोपशमका निमित्त पाकर होता है, अतएव यह क्षायोपशमिक भाव भी कर्मकृत हैं, पराधीन है।

पारिणामिक भाव व स्वभावकी व्यक्ति—केवल एक पारिणामिक भाव अनादि निधन निरुपाधि और स्वाभाविक है। मेरे पारिणामिक भावका तात्पर्य है–मेरे आत्माका जो स्वभाव है, शाश्वत भाव है। जिस स्वरूपके कारण मेरा अस्तित्व है वह स्वरूप तो अनादि अनन्त है। कभी प्रकट हुआ हो, कभी नष्ट हो जाय, ऐसी बात इसमें नहीं है। यद्यपि यह क्षायिक भाव पारिणामिक भावका एक शुद्धरूप है। जो पारिणामिक भावमें सामर्थ्य है, शक्ति है, स्वभाव है उसका स्पष्ट व्यक्तरूप है क्षायिक भाव। इस कारण क्षायिक भाव स्वभावका व्यक्तरूप है और वह अनन्त है, अविनाशी है। शाश्वत रहेगा फिर भी कर्मोंके क्षयका निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ है अतएव क्षायिक भावको सादि कहा गया है, कर्मकृत कहा गया है। यदि और सूक्ष्मदृष्टिसे निहारो तो क्षायिकभावमें प्रथम समयमें होने वाला क्षय तो कर्मकृत है, पर द्वितीय आदिक समयोंमें जो निर्मलता रहती है वह अब निमित्तदृष्टिसे कर्मकृत नहीं है। यह तो स्वभावका व्यक्तरूप है। अब इसे भी कर्मकृत समझें, क्षायिक समझें तो यह पुरानी दृष्टि लेकर समझा जा सकता है।

जीवकी स्वभावव्यक्तिको क्षायिक कहे जानेका कारण—अब क्षायिक कहनेका भूतपूर्व कारण यह है कि इस जीवके साथ बहुत-बहुत कर्म बंधे हुए थे, उनका क्षय होनेपर ही यह क्षायिक भाव हुआ था अतएव ये सब विकास क्षायिक भाव हैं और कर्मकृत हैं। यह केवल एक उपचारकी बात है। कर्मोंका क्षय हरदम नहीं होता रहता है। वह तो किसी क्षण हुआ था। जिस क्षण कर्मोंका क्षय हुआ था उस क्षणमें जो आत्माका विकास होता है उसे क्षायिक कह लीजिए, किन्तु वह विकास अब आगे भी सदाकाल रहेगा तो उन सब विकासोंको कर्मकृत कहो, क्षायिक कहो, कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुआ कहो तो यह सब भूतपूर्व न्यायसे नैगमनयसे कही बात है किन्तु वर्तमान बात नहीं है। सर्व कर्मोंसे विमुक्त हो जानेके बाद फिर यह आत्मा तो धर्म आदिक द्रव्योंकी तरह अपने स्वरूपमें शुद्ध निरपेक्ष स्वच्छ परिणमता रहता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। वहाँ कौन उपेक्षा लगाता है ? ये सब चूँकि इस जीवने पहिले अपराध किये थे उन अपराधोंकी वजहसे अब उनकी वचनकृत अशुद्धता बनाई जा रही है।

मुक्तिव्यपदेशमें गतापराधके स्मरणकी सूचकता—किसी मनुष्यको ऐसा कहो कि अब तो तुम जेलसे मुक्त हो और वह जेल कभी गया ही न था, तो वह उस बातको सुनकर बुरा मान जाता हैं। अरे बुरा क्यों मानते हो ? तुम जेलसे मुक्त हो कि नहीं, अलग हो कि नहीं। कुछ भी हो वह बुरा मान जाता है। जो कभी जेलमें गया हो वह भी बुरा मान जाता है। अरे यह मूढ़ यह स्मरण कराता है, सब लोगोंको यह जता रहा है कि यह जेलमें गए हुए थे। ऐसे ही अब सदा ही सिद्ध भगवानको ये मुक्त हैं अथवा इनके क्षायिक भाव हैं, ऐसा कहो तो यह ठोक नहीं है। सिद्ध भगवान कुछ बोलते-चालते नहीं हैं। यदि बोलते-चालते होते तो वे भी खफा होकर यही कहते कि तू हमारे भक्त लोगोंको यह स्मरण दिला रखा है कि ये भी पहिले पापी थे, कर्मबद्ध थे, अब ये कर्मोंसे मुक्त हो गए हैं। अरे जब मुक्त हुए तब के क्षण गुजर गए, तक तो मुक्त कहना, क्षायिक भाव कहना ठीक था। अब तो एक शुद्ध दृष्टिसे ऐसा कहा जाना चाहिये कि अब ये सिद्धप्रभु कालद्रव्यका निमित्त पाकर अपने ही अगुरुलघुत्व गुण के षट् स्थान पतित वृद्धि हानिसे अपने ही स्वरूपमें परिणमते हैं।

शुद्ध द्रव्यके परिणमनकी मूल पद्धतिकी समानता—द्रव्योंकी अपनी-अपनी विशेषता है कि धर्मद्रव्य अपने स्वरूपमें परिणम कर अपने ही ढंगसे परिणम रहे हैं। ये सिद्धप्रभु अपने स्वरूपमें परिणमकर अपने ही ढंगसे परिणम रहे है, मगर परिणमनकी पद्धतिमें अब जो बात आकाश आदिक द्रव्योंमें है वही बात इन सिद्ध भगवंतोंमें है, इस दृष्टिसे देखा जाय तो वह विकास निरपेक्ष है, क्षायिक नाम तो पहिले था। जिनका पहिले जो नाम पड़ जाता है वह अन्त तक कहा जाता है, यह बात अलग है। क्षायिक भावमें क्षायिकताकी बात कहना कर्मकृत समझना चाहिए। औपशमिक भावकी बात तो विशेष स्पष्ट ही है। कर्मोंके उपशम होनेपर औपशमिक भावकी उत्पत्ति होती है और कर्मोंका अनुपशम होनेपर अर्थात् उपशम मिट जाने पर वह औपशमिक भाव विच्छिन्न हो जाता है, इस कारण औपशमिक भाव भी कर्मकृत ही है।

दूर हटो परकृत परिणाम—उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमरूप, ये द्रव्यकर्मकी अवस्थायें हैं। और उनका निमित्त पाकर जीवमें जो भाव होते हैं वे भाव चूंकि जीवके स्वयं स्वभावसे उत्पन्न होते नहीं हैं इस कारण उनको भी उन कर्मोंकी ही अवस्थाएँ जान लीजिये। यह उपचार कथनसे कहा जा रहा है, किन्तु स्वभावकी बड़ी तीव्र रुचिके कारण कहा जा रहा है। एक अंतस्तत्त्वका रुचिया ज्ञानी संत अपने आपमें शाश्वत सहज चैतन्यस्वरूपको निरख रहा है और उसका चमत्कार देख-देखकर प्रसन्न हो रहा है। इस ही बीचमें कुछ कषायभाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

की, औपशमिक भावकी कोई कुछ निगाह पहुंच जाय तो उस समय उसे ऐसा लगता है कि ये गैर भाव यहाँ क्यों घुस आये ? मैं इतने अद्भुत विलक्षण आनन्दमें था, केवल एक आत्मस्वरूपका अनुभव करके मैं अपनेमें आनन्दविभोर हो रहा था, निर्विकल्प चल रहा था, ये गैर *कहाँसे घुस आये और ये भाव प्रभाव गैर ये किसके हैं ? मेरे तो नहीं हैं, मेरा तो* केवल एक शाश्वत चित्स्वभाव है। देखिये स्वभावकी इतनी पवित्र रुचि जगी है कि अपने आपमें उत्पन्न हुए विकार इसे अपने आपमें तो जंच नहीं रहे, ये आ क्यों गये ? किस तरह आ गये ? कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर आ गए, तो ये कर्मोंकी ही दशायें हैं, ये कर्मोंकी चीजें हैं, *दूर हटो परकृत परिणाम।* इस तरह अपने आपमें उत्पन्न हुए अपने विभावोंसे एकदम परका बता देना यह ललकारनेके लिए है। तुम दूर जावो। मैं तो सहज आनन्दस्वरूप अपने आपके ही ही आत्मप्रदेशोंमें रहूंगा। ऐसी रुचिके साथ निरखिये, एक शाश्वत चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य समस्त भाव आपको कर्मकृत जँचेंगे।

जिनसिद्धान्तके मर्मके अवगमकी पात्रता—औदयिकादिक ये *जीवकी अवस्थायें एक* शुद्ध चित्स्वभावरूप नहीं हैं, इस ही कारण कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमके निमित्त से उत्पन्न हुए आत्माके परिणामोंके कर्ता ये द्रव्यकर्म हैं। इनका कर्ता मैं नहीं हूं। जिन सिद्धान्तका मर्म नयोंकी कुशलता पाये बिना नहीं हो सकता और अपने आपके कल्याणकी शुद्ध दृष्टि जगे बिना नहीं हो सकता। सिद्धान्तका मर्म पानेके लिए ये दो बातें होनी आवश्यक हैं— एक तो निज कल्याणकी दृष्टि हो और दूसरे नयोंमें बहुत कुशलता प्राप्त की हो। नयोंके सम्बन्धमें कोई हठवाद न हो, एकान्त न हो तब ही इस जिन सिद्धान्तरूप अपार समुद्रके भीतर पड़े हुए रत्न कर्मोंकी प्राप्ति हो सकती है। तत्त्वके कथनमें शब्द शब्दके प्रति नयोंकी कैसी-कैसी छटायें चला करती हैं एक ही वाक्यमें पद-पदमें कि नयका मर्म पड़ा हुआ है, यह बात जिन्हें बोलने सुननेके साथ-साथ शीघ्र शीघ्र ग्रहणमें नहीं आती है वे जिनसिद्धान्तके मर्मको यथार्थतया क्या जानें ?

धर्मपालनका उद्यम—किसी भी एक बड़े कामके लिए वर्षों तैयारी करनी पड़ती है। मिलेटरीमें योद्धा लोग कहीं आज ही भर्ती हों और आज ही काममें आ जायें ऐसा नहीं होता। १०-५ वर्ष वे तैयारी किया करते हैं तब उनके यह कुशलता जगती है कि वे संग्राममें अपनी कला दिखा सकें। यह धर्मका पालन संसारके सब कामोंसे अधिक महान् है। यह धर्मपालन किसी बिरलेको ही तुरन्त हो ले वह बात अलग है, किन्तु यों नहीं हो जाता। आज मनमें आया कि आजसे धर्म करने लगें, क्या कि भाईके साथ मंदिर पहुंच गए। अब भादों आने वाला है भैयाके साथ पूजनमें खड़े हो गए, धर्म पाल लिया। अरे धर्मपालनके लिए सारा जीवन तैयारी तैयारीमें ही लगाना है तब किसी दिन धर्मपालनकी विधि मालूम पड़ेगी और धर्म

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पालनका आनंद अनुभवमें आयगा। इसके लिए पात्रता जगायें, उदारता जगायें, मंदकषाय करें ज्ञानार्जन करें और वह भी सत्संगसे, गुरुमुखसे और मर्मज्ञ पुरुषोंसे उसका अध्ययन करें। वह भी अध्ययन नम्रता, उपासना, सेवा, हार्दिक भक्ति आदिक गुण प्रकट हुए बिना नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी शिष्य कोई भी विद्याका अर्थी जितनी उसमें योग्यता है पात्रता है, नम्रता है, भक्ति है उतना ही वह समझता है, अथवा यों कहने अथवा वचनोंमें से अर्थ खींच लेता है।

दृष्टान्तपूर्वक धर्मपालनके पुरुषार्थका समर्थन—एक ब्राह्मण किसी संन्यासीके पास गया। बोला महाराज हमें कुछ उपदेश दो। हमारे कल्याणके लिए कुछ हमें बतावो। तो साधु ने कहा—ब्रह्म अस्मिका चिन्तन करो, मैं ब्रह्म हूं।…महाराज कुछ और बतावो। ब्रह्म अस्मि। कई बार उसने कहा कि कुछ और बतावो तो संन्यासी बोला कि अमुक गाँवमें एक पंडित रहता है, उसके पास जाकर विद्या सीखो। वह उस पंडितके पास पहुंचा। बोला पंडित जी हमें कुछ विद्या सिखा दीजिए। तो पंडितने कहा अच्छा देखता हूं घरमें कोई काम बाकी तो नहीं रहा, क्योंकि बिना कुछ सेवा कराये विद्यार्थीको विद्या ही नहीं आती। कोई पैसा खर्च करके किसी मिस्त्रीसे कुछ मशीनरीका काम सीखे तो वहाँ भी उसके साथ बड़े विनय पूर्वक रहकर मशीनरीकी विद्या सीखी जा सकती है। तो बिना कुछ सेवा कराये विद्या न आयगी। पंडित जी ने कहा—देखो तुम रोज यह गोबर डालकर गौशाला साफ कर दिया करना। यही तुम्हारा रोजका काम है और विद्या सीखना। वह बेचारा दो तीन घंटे रोज गौशालाकी सफाईका काम करे और विद्या सीखे। १२ वर्ष तक इसी तरह विद्या सीखी। जब अंतिम दिन बिदा होनेको हुआ तो उस ब्राह्मणने कहा—पंडित जी, अब हमें दक्षिणाके रूपमें दीक्षांतकी तरह एक अन्तिम शिक्षा दीजिए। तो पंडित जी बोले—चिन्तन करो—ब्रह्म अस्मि तो वह ब्राह्मण बोला—पंडित जी इतनी बात तो एक संन्यासीने हमें १२ वर्ष पहिले बताई थी, तो क्या मैंने १२ वर्ष तक गोबर मुफ्त ही में उठाया? पंडित जी बोले—मुफ्तमें इतने दिन तुमने गोबर नहीं उठाया, इतनी विद्या सीखनेके लिए बिना इतने दिन इस प्रकारका श्रम किए यह विद्या आ ही न सकती थी। तो जिसे धर्मपालन कहते हैं वह यों ही नहीं कर लिया जाता, इसके लिए तो सारा जीवन ही तैयारीमें लगाना पड़ता है। इसके लिए महान् ज्ञानबलका प्रयोग करना पड़ेगा तब जाकर धर्मपालनकी स्थिति आती है। कर्ता भावसे रहित शुद्ध चैतन्यस्वभावकी दृष्टिमें मग्न होना यही धर्मपालन है और यह ही कल्याणकारी महान् पुरुषार्थ है।

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।
ण कुणदि अत्ता किंचिवि मुत्ता अण्णं सगं भावं ॥५६॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर्तृत्वविषयक एक आशंका—पूर्व गाथामें जीवके औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक—इन चार भावोंको कर्मकृत कहा गया था। द्रव्यकर्मके उदयसे औदयिक भाव होता है अतः औदयिक भावका कर्ता द्रव्यकर्म है। इस ही प्रकार द्रव्यकर्मके उपशम, क्षय, क्षयोपशम अवस्थाका निमित्त पाकर औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव होते हैं, इस कारण उन्हें भी कर्मकृत कहा है। इस वर्णनको सुनकर एक आशंका हो सकती है, उस ही आशंका का इस गाथामें वर्णन है। यदि ये भाव कर्मकृत हैं तो फिर आत्मा इन कर्मों का अर्थात् भावकर्मोंका कर्ता कैसे हो जायगा? बात तो यह थी कि यह आत्मा अपने भावोंको छोड़कर अन्य किसीका कर्ता नहीं है, किन्तु तुम तो इससे विपरीत ही बात कह रहे हो। आत्माके भावोंका करने वाला द्रव्यकर्मको बता दिया। अब आत्मा अपने आत्मभावको कैसे करे, यदि यह कहें कि जीवको अकर्ता रहने दो, वह अपने परिणाम भी न करे। जीवके परिणामोंका करने वाला कर्म हो गया तो क्या आपत्ति है, तो यह भी फिट नहीं बैठता कि जीव को सर्वथा अकर्ता कह दिया जाय। ऐसा लोकमें कोई पदार्थ नहीं है जिसका कभी कुछ परिणमन ही न हो। जिसका जो परिणमन है वह उसका कर्ता है। जीव एक अमूर्तिक चैतन्य विशेष धर्मको लिए हुए सद्भूत पदार्थ है।

अनुभवकी प्रामाणिकता—यह जीव है, यह बात सब विदित होती है जब अपने आपको ज्ञानमात्र रूपमें अनुभवा जाय। जो ज्ञानप्रकाश है, ज्ञान प्रतिभास है निज स्वभावमें तादात्म्यरूप यह वास्तविक कोई सत् है इसका परिज्ञान होता है। लोग जीवके बारेमें जानना तो चाहते हैं बड़े स्पष्ट और विस्तारमें, पर जाननेका जो उपाय है उस उपायको नहीं करना चाहते। इन इन्द्रियोंसे अथवा युक्तियोंसे उसे पहिचानना चाहते हैं, पर ये इन्द्रियां भी सत्य बात जाननेके साधन हैं ऐसा भले ही स्वीकार करें, पर कहीं-कहीं फेल हो जाते हैं। जो सत्य-सा दिखता है वह भी असत्य हो जाता है और इसके पश्चात् कोई युक्तियोंका विश्वास करे तो युक्ति मानो सचसी लगती, पर फेल हो जाया करती है। युक्तिमें जैसा उतरता है वैसा सही नहीं है। एक अनुभव ही ऐसी चीज है जो पूर्ण प्रामाणिक हुआ करता है।

इन्द्रियज ज्ञानोंमें अप्रामाणिकताकी भी संभावना—एक ऐसी घटना हुई कि राज-महलमें राजाके पलंगको सजाने वाला कोई नौकर था। जिसका केवल यही काम था कि उस महलके कमरेकी सफाई रखे और पलंगको इतना बढ़िया सजाये कि जिसपर सोते ही नींद आ जाय। वह नौकर रोज पलंग सजाया करता था बहुत कोमल सुगंधित। एक दिन उसने सोचा कि मैं रोज यह पलंग सजाया करता हूं इतना कोमल तो आज जरा इसपर दो मिनट लेटकर देख तो लूं कि राजा किस आरामसे इस पलंगपर सोते हैं? उस नौकरको दो मिनटमें ही नींद लग गयी। अब वह पलंगपर लेटा रहा। रानी आयी, समझा कि राजा सो रहे हैं, सो वह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी उसी पलंगपर लेटकर सो रही। थोड़ी देर बाद राजा आया, यह दृश्य देखकर उसे इतना क्रोध आया, सोचा कि इन दोनोंके तलवारसे सिर उड़ाकर जान खत्म कर दें। फिर कुछ विवेक किया, देखें आखिर मामला क्या है, कौन है कैसा है ? कुछ परीक्षा तो करें। अब देखो न नौकरको रानीका पता, न रानीको नौकरका पता। राजाने सबसे पहिले रानीको जगाया तो जगकर वह बड़े अचरजमें पड़ी। सोचा कि यह मामला क्या है, राजा तो अब आये हैं। बड़े विस्मयके साथ वह चिन्ता करने लगी। राजासे पूछा रानीने विस्मयके साथ कि आप तो यहाँ खड़े हैं यह कौन पड़ा है ? यह तो मेरे आनेके पहिले इसमें पड़ा हुआ था। नौकरको जगाया तो वह तो राजा और रानी दोनोंको देखकर डरके मारे कांपता हुआ बोला महाराज भूल हुई। मेरे आज एक कुबुद्धि उत्पन्न हो गयी थी। मेरे दिमागमें आया कि बहुत दिनोंसे पलंग बिछा रहा हूं, लेटकर देखना चाहिए कि राजा कैसे पलंगपर सोते हैं। जब मैं इसमें लेट गया तो लेटते ही नींद आ गयी। तो अब देखो देखी हुई बात है, राजाने आँखों देखी है फिर भी क्या वह सच है जो राजाने कल्पनामें किया था ? तो इन इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष की हुई बात भी फेल हो सके, ऐसा हो जाता है।

युक्तियोंकी भी कभी अप्रमाणिकताकी संभावना—चलो युक्तिकी बात देखो। युक्तिकी बात शायद फेल न होती हो। एक पुरुषके दो स्त्रियां थीं। एक स्त्रीके एक लड़का था और एकके न था। तो जिसके लड़का न था उसने राजाके पास अपना मामला दायर कर दिया कि महाराज यह लड़का मेरा है। राजा ने दोनों स्त्रियोंको बुलाकर पूछा तो एक स्त्री कहे मेरा लड़का है, दूसरी स्त्री कहे मेरा लड़का है। जिस स्त्रीका लड़का न था उसका वकील चतुर था। बोला—महाराज जरा बुद्धिसे तो सोचो पिताकी जो सम्पदा होती है उस सम्पदा पर हक स्त्रीका होता है कि नहीं ? तभी तो शायद ऐसा माना जाने लगा कि कोई पुरुष अपनी स्त्रीके नाम कोई जायदाद कर दे तो वह अलग नहीं समझी जाती। हाँ हाँ युक्तिमें तो उतर रहा है कि जो पतिकी सम्पदा है, पतिकी चीज है वह स्त्रीकी भी पूरी है। यह लड़का इसका ही तो है। बड़ा विवाद चला।

अनुभवकी प्रामाणिकताका एक दृष्टान्त—राजाने एक दिन छोड़कर दूसरे दिन इस मुकदमेको लिया तो राजाके चित्तमें निर्णय समा गया और सिपाहियोंको समझा दिया हम ऐसा आर्डर देंगे, तुम यों करना, यों न करना सब बता दिया। जब दोनों स्त्री सामने आयीं तो यह निर्णय दिया कि देखो तुम दोनों एक ही पतिकी स्त्री हो। जो पतिकी जायदाद होती है उसपर उसकी स्त्रीका हक होता है, इसी कारण हमारी ओरसे यह फैसला है कि इस लड़केपर तुम दोनोंका हक है। ऐ सिपाहियों ! इस लड़केका ठीक बीचसे पेटसे काट दो और एक हिस्सा एक स्त्रीको दे दो, दूसरा दूसरी स्त्रीको। अब जिस स्त्रीका बच्चा न था वह मन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ही मन बड़ी खुश हो रही थी, सोचती थी कि इससे बढ़कर मुझे और क्या मिल जायगा ? मेरे तो बच्चा है ही नहीं और इसके भी बच्चा न रहेगा। और जिस स्त्रीका वह बच्चा था वह कहती है—महाराज यह मेरा बच्चा नहीं है, यह बच्चा इसका ही है, आप इसको ही दे दो, मुझे न चाहिए। तब राजा ने उस मना करने वाली स्त्रीको वह बच्चा दे दिया। उस स्त्रीकी यह चाह थी कि बच्चा जिन्दा तो रहे, चाहे मेरे पास रहे चाहे इसके पास। मैं तो इसकी शकल ही देख देखकर खुश रहूंगी। तो अनुभवने इसको प्रमाणित किया। अनुभवमें उतरी हुई बात दिलमें आयी हुई बात प्रामाणिक होती है। कदाचित् ऐसा भी हो सकता कि भ्रममें कुछसे कुछ मान ले तो प्रमाणित नहीं है। ठीक है किन्तु विवेक हो तो अनुभवमें प्रमाणिकता आती है।

यथार्थ ज्ञानके लिये विपरीताशयके परिहारकी अनिवार्यता—अपने आत्माके सम्बंधमें यदि यथार्थ जानकारी करना है तो विपरीत अभिप्रायको दूर करना होगा, परपदार्थोंसे उपेक्षा रखनी होगी। शरीर, धन, परिवार, घर, यश, नाम समस्त परतत्त्वोंकी उपेक्षा करनी होगी। इतना विशुद्ध आशय बनाए बिना आत्मतत्त्वके बारेमें कुछ नहीं जाना जा सकता है। फिर इतनी तैयारीके बाद सहज विश्रामसे यह अपने आत्मतत्त्वको देखे तो इसे अपने आपमें अपने स्वरूपका दर्शन हो सकता है। मैं ज्ञानमात्र जो एक आल्हाद और आनन्दस्वरूपको लिए हुए हूं, ऐसा सहज ज्ञानानन्दस्वरूप यह निज आत्मतत्त्व अपने आपको स्पष्ट अनुभवमें आ जायगा।

आशंकाका पुनः विवरण—इस आत्माके सम्बंधमें यह एक चर्चा रखी जा रही है, यह आत्मा अपने परिणामोंका कर्ता है, यह बात आगम प्रमाणसे, युक्तियोंसे, अनुभवसे सब प्रकारसे निश्चित कर दी थी। अब यह क्या पन्ना पल्टा दिया, जीवके भावको कर्मकृत ही कह डाला और एक पारिणामिक भाव छोड़ा, उसे कर्मकृत नहीं कहा, सो उसे कार्य भी तो नहीं माना, क्रिया भी तो नहीं माना, काम भी तो नहीं माना, फिर कृत बात कहनेकी गुंजाइश ही क्या है ? जो काम है, जो परिणाम है वह चाहे क्षायिक हो, औदायिक हो, औपशमिक हो, क्षायोपशमिक हो, उन सबको भी कर्मकृत कह डाला, तब फिर यह आत्मा किसे करेगा ? ऐसी आशंका इस गाथामें रक्खी जा रही है। यदि ये औपशमिक आदिक चार भावकर्मोंके द्वारा किए जाते हैं तो अर्थ यह हुआ ना कि जीव उन भावोंका कर्ता नहीं है। उनके कर्ता कर्म हुए। तब जीव उन भावोंका कर्ता नहीं। इसका भाव यह हुआ कि किसीका भी कर्ता नहीं, यह बात तो इष्ट है नहीं, सिद्धि न होगी। यथार्थ है भी नहीं।

कर्तृत्वविषयक समाधान—जीव तो अब यहाँ कर्ता रहा नहीं तुम्हारी शंकामें। तो अर्थ यह हुआ कि जीव अपने भावोंका कर्ता नहीं किन्तु द्रव्यकर्मका कर्ता हो गया। तो परस्पर में जुहार हो गयी। द्रव्यकर्मने कर दिया जीवके भावोंको और जीवने कर दिया द्रव्यकर्मको।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लो कैसे कलंकसे बचे ? पदार्थको अकर्ता भी न रहने दिया, परिणमनसे रहित भी न रहने दिया। और बात भी कुछसे कुछ रख दिया। जीव हुआ द्रव्यकर्मका कर्ता और पुद्गलकर्म हुआ जीवके भावोंका कर्ता, मगर यह बात कैसे घटित हो, क्योंकि निश्चयसे यह आत्मा अपने भावोंको छोड़कर अन्य किसीकी कर ही नहीं सकता, करता ही नहीं है। यदि एकान्त से ये रागापिक भाव कर्मोंके द्वारा ही किए गए हैं तब आत्मा द्रव्यकर्मका भी कर्ता कैसे हो सकता है, क्योंकि रागादिक परिणाम तो करता है कर्म, सो रागादिक परिणामोंका धनी तो नहीं रहा यह जीव और जीवमें रागादिक परिणाम हुए बिना द्रव्यकर्म बन नहीं सकता तब कुछ सिद्ध न हो सकेगा। अतः यह बात जंचती नहीं है कि द्रव्यकर्म जीवके भावोंका कर्ता है।

दार्शनिक एक पक्षकी झांकी—इसमें एक बात और दार्शनिकताकी बतायी है। कुछ लोग ऐसा मानने हैं कि जीव स्वभावका कर्ता है, स्वके भावका नहीं, किन्तु स्वभावका कर्ता है अर्थात् जीवमें जो चैतन्यतत्त्व है, स्वभाव है उस चैतन्यका कर्ता है यह जीव, पर जीवके जो परिणमन हैं उनका कर्ता नहीं है। चेतनके परिणमन ही नहीं हुआ करते। ये जानन देखन, विचार, राग, द्वेष जो कुछ होते हैं यह जीवकी क्रिया नहीं है, प्रकृतिकी क्रिया है, यों सांख्य सिद्धान्तके अनुसार यह पक्ष रखा जा रहा है कि जीव तो कर्ता ही नहीं रहा किसीका। इस ही पक्षको लेकर कुछ लोग ऐसा कहा करते हैं कि चेतन तो अकर्ता है, कुछ नहीं करता। और चेतन निर्गुण है, भेदरहित है, ये ज्ञान, दर्शन, आनन्द जो कुछ तुम समझ रहे हो ये इस चेतन आत्माके गुण नहीं हैं, ये प्रकृतिके हैं ऐसा सांख्यदर्शनके अनुसार आत्माका स्वरूप बताया जा रहा है। यह आत्मा शुद्ध है, रागद्वेषसे परे है। इस समय लोग यह भ्रम कर रहे हैं कि यह आत्मा रागद्वेष करता है। रागद्वेष कर रही है और दूसरी कोई शक्ति और भ्रम हो गया है कि यह जीव रागद्वेष करता है। जिस दिन यह भ्रम मिट जायगा और जीवको निर्गुण अकर्ताके रूपमें परख लेगा तब ही कल्याण बनेगा। इस आधारको लेकर इस जीवको अकर्ता और निर्गुण कहा गया है। यह चेतन अकर्ता है, निर्गुण है, इसी कारण यह शुद्ध है, नित्य है, एक है, सर्वव्यापक है।

अध्यात्म आशंकाका समाधान—भैया ! देखिये कहींकी बात कहीं जोड़ी गयी है उक्त अध्यात्मसिद्धान्तमें। बातें सब सही हैं, गलत कुछ नहीं है जो कुछ भी कहा जा रहा है, पर कहींकी बात कहीं जोड़े, बस उसका एक रूप बन गया है यह। यह चौकी है इसमें चार पाये हैं, अगल-बगल ये चार पाटियां भी लगी हैं, उसके ऊपर यह पाटिया भी लगा है, यह तो ठीक है जो लगा है, मगर इस चौकी बननेसे पहिले ये सारेके सारे अवयव अलग-अलग थे या नहीं थे। अब उनको कोई बेढंगे ढंगसे जोड़ दें, पाटियापर पावा जोड़ दे, पावा पाटीकी तरफ जोड़ दे तो इस तरह जोड़ देनेसे चौकी बन जायगी क्या ? नहीं बनेगी। इसी तरह बातें तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ये सब सही हैं। आत्मा अकर्ता है कि नहीं ? है, देख लो खूब। और ये धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य अकर्ता हैं कि नहीं ? हाँ हैं। इनकी बात तो जरा जल्दी समझमें आ जाती है कि ये पदार्थ अकर्ता हैं। ये कहाँ कुछ करते हैं ? कुछ भी नहीं करते हैं। तो क्या ये सभी पदार्थ परिणमन बिना रहते हैं ? हाँ परिणमन बिना तो नहीं रहते। तो वे अपना परिणमन करते हैं कि नहीं ? अरे अपने परिणमन करनेकी बात लेना फिट नहीं बैठती। वे पदार्थ हैं और उनमें परिणमन होता है। होनेकी बात सही लगती है, करनेकी क्या बात है वहाँ ? पदार्थ हैं, परिणम रहे हैं। हाँ उन पदार्थोंमें यह बात ठीक घटित हो गयी और चित्तमें भी जम गयी कि ये आकाश आदिक द्रव्य परिणमते रहते हैं, करते कुछ नहीं हैं। अरे तो यही बात तो जीवकी है। ये जीव परिणमते रहते हैं, करते कुछ नहीं हैं।

अकर्तृत्व और निर्गुणत्वके भ्रमका कारण व सिद्धि—लोगोंको करनेका भ्रम क्यों हो गया ? यों हो गया कि इसमें एक चेतनकी विशेषता है, समझनेकी विशेषता है। बुद्धि और आशयमें आया कि क्या है तब इसमें करनेका नाम लग रहा है। साहित्यमें किसी पदार्थका करने वाला किसी प्राणीको बताया जाय तो उसमें वह अलंकार नहीं मानता, किन्तु वह अजीव किसी अजीवको करनेकी बात बताई जाय तो उसमें अलंकार मानता है। तो इससे भी आप यह जान जायें कि अचेतनमें करनेका व्यवहार नहीं होता। चेतनके करनेका व्यवहार होता है, मगर पदार्थके नाते जो स्थिति अचेतनकी है वही स्थिति चेतनकी है, फिर यहाँ करनेकी बात क्यों कहते हो ? खूब परख लो, इस दृष्टिसे यह जीव अकर्ता है कि नहीं ? है। और निर्गुण, आत्माके जब हम शुद्ध साधारण चैतन्यस्वरूपको निरखने चलते हैं तो यह सामान्य तत्त्व जब हमारे अनुभवमें आता है तब हमारे विकल्प कुछ नहीं रहता, और जब विकल्प नहीं रहता तो कोई गुण नहीं है। गुणका अंदाजा, गुणका प्रयोग, गुणका व्यवहार तो विकल्प अवस्थामें है। तब देखो आत्मा निर्गुण हुआ ना ? परसे विविक्त केवल स्व मात्र है ना।

नित्य व सर्वगतत्व आदिकी सिद्धि—देखो नित्य है ना, और सर्वगत है ना यह जीव। प्रथम तो इस लोकमें कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जहाँ जीव न हो और फिर एक स्वभावदृष्टि अगर करें, जहाँ एक केवल चैतन्यस्वरूप ही दृष्टिमें आये तो वह चैतन्यस्वरूप बतावो कौन सीमामें है ? यह स्वरूप चेतन है, यहाँ तक ही है, आगे नहीं है। अरे उसका न कोई खास केन्द्र है, न विस्तार है, न छोटापन है, न बड़प्पन है। वह तो बड़ीसे बड़ी सीमावोंको छोड़कर एक चैतन्यमात्र है। तब सर्वगत हुआ ना ? अक्रिय है, अमूर्त है, ये सब बातें जो सांख्यदर्शनमें हैं वे सब सही हैं, मगर किसी नयसे कुछ चीज जोड़ना चाहें, किसी नयके कुछ चीज जोड़ना चाहें, यह जुड़ावा न करके नयविभागपूर्वक सबको एक जोड़ दें, बस सही बात हो जाती है। यह पूर्व पक्ष चल रहा है, इसका और विवरण अभी किया जायगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नयविभागकी व्यवस्थासे स्वरूपनिर्णय—जैसे खाटके ८ अंग—४ पाया, २ पाटी, २ सीरा ये सही हैं, पर किसी अंगको किसी अटपटे अंगके साथ जोड़ दिया जाय तो क्या खाट का स्वरूप बन जायगा ? पावामें पावा जोड़ दो, पाटीमें पाटी जोड़ दो तो खाट बन जायगा क्या ? नहीं बनेगा, ऐसे ही आत्मामें ये सभी धर्म हैं। यह आत्मा अकर्ता है, इसका जो शाश्वत स्वरूप है उसमें रंग तरंग नहीं है, फिर कर्ता किस बातका ? यह आत्मा निर्गुण है, केवल एक ज्ञानस्वभावस्वरूप है, यह आत्मा शुद्ध है, सर्वसे विविक्त केवल अपने सहजस्वभाव में तन्मय है। यह आत्मा नित्य है, शाश्वत है, सदा रहने वाला है। यह आत्मा सर्वव्यापक है। स्वभावदृष्टिसे देखा जाय तो इस दृष्टिसे केवल वही-वही असीम नजर आता है, इसलिए सर्वगत हुआ ना ? पदार्थदृष्टिसे देखा जाय तो इस लोकमें ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं बचा जहाँ अनन्ते जीव न हों। एक जीवकी तो कहानी क्या है ? यह सारा लोक जीवोंसे खचाखच भरा हुआ है ना, और ये सब जातिदृष्टिसे एक ही तो हैं, इसलिए सब जीव हैं, यों कहा जा सकता है। जीव सर्वव्यापक है, यह जीव निष्क्रिय है। यह तो केवल अपने भावरूप है। निश्चयदृष्टि रखकर सब सोचते जाइये। यह जीव अमूर्त है, रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित है। यह जीव चेतन है, जड़तासे शून्य है, स्वभावमय है। यह जीव भोक्ता है, कुछ तो परिणमता है। वहां उसका अनुभवन है। ये सारी बातें इस आत्मामें सही बैठती हैं, किन्तु जो धर्म जिस नयसे कहा जाने योग्य है, समझा जाने योग्य है उसको उस नयसे न समझें और जो चाहे धर्म जिस चाहे धर्मके साथ जोड़ बैठे तो यह तो स्वरूप न बन जायगा।

धर्म द्वारा धर्मीकी वक्तव्यता—इस प्रसंगमें एक बात और समझना है कि कोई भी किसी धर्मीका सीधा प्रतिपादन नहीं कर सकता। जब भी प्रतिपादन करेगा तो किसी धर्मका प्रतिपादन करेगा किसी अंशका करेगा। समग्र वस्तुको कोई कह नहीं सकता। जैसे आत्माके सम्बन्धमें जब यों कहा जायगा कि यह ज्ञानी है, ज्ञानमय है तो एक अंश ही तो बताया गया ना ? समग्र आत्मा कहाँ कहा गया ? यह आनन्दस्वरूप है, एक ही अंश तो कहा गया है। समग्र आत्मा किसने कहा है ? कहा नहीं जा सकता, तब समग्र पदार्थको हम समझें कैसे ? कौनसा शब्द है, कौनसा ढंग है, बस वहाँ केवल एक ही अंग है। जिस धर्मको हम प्रधान मानकर वस्तुके ज्ञानके लिए चलते हैं वह धर्म तो धर्मी बन जायगा और शेष धर्म धर्म बन जाते हैं। तो इससे भी बात यही ध्वनित हुई कि धर्मको धर्मीसे जोड़ा जा रहा है। यदि अट-पट रूपसे जोड़ दिया जाय तो वह आत्मस्वरूप न बन जायगा। किस नयसे किस धर्मको किस प्रकार समझना है, जानना है, प्रतिपादन करना है उस ही पद्धतिसे चर्चा चले तो वहाँ आत्मस्वरूप बनेगा।

कर्तृत्वके सम्बन्धमें सिद्धान्तस्थापनसे पूर्व पक्षकी भूमिका—यह प्रकरण चल रहा है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर्तृत्वके सम्बन्धमें एक आशंकाका। यदि रागादिक भाव या कुछ भी आत्मभाव कर्मकृत हैं तब फिर जीवने क्या किया ? कर्मने किया जो कुछ किया। और जैसे कि यहाँ कुछ आगमका माध्यम लेकर कहा जा सकता कि देखो जीवको ज्ञानी बनाया तो जीवके ज्ञानावरणके क्षयोपशमने बनाया। न हो ज्ञानावरणका क्षयोपशम तो कैसे ज्ञानी बने, और देखो–जीवको अज्ञानी बनाया तो ज्ञानावरणके उदयने बनाया न, न हो ज्ञानावरणका उदय तो यह जीव अज्ञानी कैसे हो ? रागद्वेष मोह ये सभी बातें कर्मने किया ना ? इस प्रकार सर्वभावोंको कर्मकृत ही सर्वथा यान लिया जाय तो फिर जीवने और कुछ किया क्या सो बतावो ? कहोगे कि जीवने द्रव्यकर्मको कर दिया । यह भी बात ठीक नहीं है। यह आत्मा अपने स्वभावको छोड़कर अन्य कुछ नहीं करता। अच्छा यही मान लो कि जीवका जो स्वभाव है शाश्वत अपरिणामी चिद्रूप जो तत्त्व है उसको किया। अरे उसको क्या किया ? अब इस प्रसंगके सम्बन्धमें सिद्धान्त उपस्थित करते हैं।

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं होदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥६०॥

निमित्तदृष्टि व उपादानदृष्टिसे कर्तृत्व—ये मिथ्यात्व रागादिक भाव जीवमें कर्मके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् कर्मोंके उदय होनेपर ये रागद्वेष मोह आदिक भाव होते हैं, और ये कर्म भावकारणक होते हैं अर्थात् जीवके रागादिक भावोंका निमित्त पाकर ये कार्माण-वर्गणायें कर्मरूपसे परिणाम हो जाया करती हैं। वस्तुतः जीवमें और कर्ममें परस्पर कर्तृत्व सम्बंध नहीं है। निश्चयदृष्टिसे, उपादानदृष्टिसे जीव न कर्मका कर्ता है, कर्म न जीवका कर्ता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवमें जो भाव उत्पन्न हुए हैं उनका उपादानकर्ता जीव है और कार्माणवर्गणाकी जो अवस्थायें उत्पन्न हुई हैं उनका उपादानकर्ता कर्म पुद्गल है।

वस्तुविज्ञानका प्रयोजन विभक्त तत्त्वका परिचय—देखिये यह प्रसंग प्रयोजनभूत ज्ञातव्यतत्त्वका प्रकरण है, इष्टोपदेशमें लिखा है—जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ जितने भी उपदेश होते हैं, जितने भी वर्णन हों धर्मके प्रसंगमें उन सबका निचोड़ केवल इतना ही है कि जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है। इसके अलावा जो भी वर्णन हो रहा हो वह सब इस ही का विस्तार है। धर्मपालनके लिए सर्वप्रथम यह ज्ञान होना आवश्यक है कि जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है। यह मैं चैतन्य जीव जुदा हूं और ये धन वैभव, परिजन, देह इत्यादि सब प्रकट जुदे हैं। यह जुदापन क्यों सलझना ? ताकि मोह न आये। यह ही मेरा सर्वस्व है, इस वैभवसे ही मुझे शान्ति है, इसमें ही मेरा बड़प्पन है, हित है, यह कुबुद्धि न समाये—इसके लिए भेदविज्ञानकी आवश्यकता है। यह तो प्रकट भिन्न पदार्थोंकी बात कही है। अब इससे और भीतर चलें तो ज्ञानावरणादिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ल कर्म हैं और यह जीव है। इन दोनोंमें भेदविज्ञान करना चाहिए, जीव जुदा है और ये पुद्गलकर्म जुदे हैं, यह बात आप तभी तो समझ पायेंगे जब यह निर्णय हो जायगा कि जीव जीव के भावका स्वामी है। जीव जीवके भावका कर्ता है। जीव जीवके भावका अधिकारी है, और पुद्गल पुद्गलका ही स्वामी, अधिकारी एवं कर्ता है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बंध व वस्तुस्वातन्त्र्यका परिचय—द्वैतकी दृष्टि रखकर उपादानके रूपमें इन दोनोंका सम्बंध निरखा कि वहाँ निर्मोहता सिद्ध नहीं हो सकती। जीवभावका और कर्मभावका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध भी है और निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होनेपर भी ये दोनों एक दूसरेसे अत्यन्त जुदे हैं, और प्रत्येक अपने आपमें अपने परिणमनमें स्वतंत्र हैं। ये दो बातें जिनके उपयोगमें स्पष्ट निर्णीत हो जाती हैं वे तत्त्व मर्मज्ञ हैं। यदि कोई दुराशयसे किसी एक बातकी ओर ही हठ कर ले तो उसने वस्तुके स्वरूपका जलवा नहीं समझ पाया। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूपमें स्वतंत्र है और वह मलिन भी है और मलिन भावोंसे परिणमेगा भी तो भी स्वतंत्र होकर अपने परिणमनसे ही परिणमकर वह मलिन बनेगा। किन्तु ऐसा होनेमें कोई पर-उपाधि निमित्त हुई। पर-उपाधि निमित्त होनेपर भी निमित्तभूत उपाधिने अपने द्रव्य गुण कर्म कुछ भी उस परिणमते हुए भिन्न उपादानको कुछ नहीं दिया।

नयचक्रकी साधनामें ज्ञानप्रकाश—भैया! निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धका और उपादान उपादेय भावका स्पष्ट निर्णय एक ज्ञानी संतमें रहा करता है। कर्म जीवके भावोंका कर्ता है। जीव ही जीवके भावका कर्ता है। जीव और कर्म बिल्कुल जुदे पदार्थ हैं। जीव और कर्मका परस्पर एक क्षेत्रावगाह घनिष्ट सम्बन्ध है आदिक समस्त कथन जो सुननेमें विरोधी कथन जैसे लगते हैं वे भी नयचक्रके साधनोंसे सब अविरोधी मालूम होने लगते हैं। यह नयचक्र एक कठिन चक्र है। इसका साधन जब तक नहीं हो पाता है तब तक वस्तुस्वरूपके प्रकाशन में उसे सफलता नहीं मिल सकती। अज्ञान और मोहसे युद्ध करनेमें वह विजयी नहीं हो सकता। इस कारण इस समस्त वर्णनको नयचक्रकी साधना सहित सत् आशयके साथ सुनना चाहिए।

जीवभाव व कर्मभावमें निमित्तनैमित्तिकता—जीवभावका कर्ता कर्म है, क्योंकि ये औदयिक आदिक जो भाव उत्पन्न हुए हैं वे कर्मोंका निमित्त पाकर हुए हैं। कर्मोंके उदयका निमित्त हुए बिना यह जीवभाव उत्पन्न नहीं होता। यदि कर्मस्थितिका निमित्त पाये बिना जीवभाव उत्पन्न हो जाय तो यह औदयिकभाव ही जीवका स्वरूप बन जायगा और जो जिसका स्वरूप होता है वह उससे त्रिकाल भी अलग नहीं किया जा सकता, तब यों इसे सदा काल रागी ही मोही ही बना रहना पड़ेगा और दुःखी रहना होगा। जीवका विभाव कर्मका निमित्त पाकर होता है अतएव व्यवहारदृष्टिसे कर्म जीवभावका कर्ता है और इस ही प्रकार जीवभाव द्रव्यकर्मका भी कर्ता है। कार्माणवर्गणामें जो कर्मत्वकी प्रकृति आती है वह आत्मा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के रागद्वेष भावोंका निमित्त पाये बिना नहीं आती, अतएव जीवभाव द्रव्यकर्मका कर्ता है। पर साथ ही यह भी देखते जाना कि यह निमित्तनैमित्तिक सम्बंध भी पर्यायका पर्यायके साथ है, द्रव्यका द्रव्यके साथ नहीं है। द्रव्यका द्रव्यके साथ भी सम्बंध कहा जाय तो यों समझना कि चूंकि द्रव्य पर्यायमय है और पर्यायको प्रधान करके द्रव्यको निरख करके कहा गया है। शाश्वत स्वभावरूपमें निरखा गया द्रव्य किसी भी द्रव्यका निमित्त भी नहीं है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बंधमें पर्यायकी मुख्यता—जैसे घड़ा बनानेमें कुम्हारके हस्त आदिककी क्रिया निमित्त है कि वह समस्त कुम्हार देह मात्र निमित्त है? अरे कुम्हारकी हस्तक्रिया चाक, डंडा, मिट्टी ये सब निमित्त हैं। तो जैसे कुम्हारकी क्रिया हाथ आदिकका चलाना, इस प्रकारकी चेष्टा घटनिर्मितिके निमित्त हैं ऐसे ही कर्मबंध होनेमें कर्मकी दशा बननेमें जीव निमित्त नहीं है, किन्तु जीवकी जो रागद्वेष मोह आदिक चेष्टायें हैं वे निमित्त हैं। इस ही प्रकार जीवके परिणाम रागद्वेष आदिक बननेमें कार्माणका द्रव्य निमित्त नहीं है, किन्तु उस पुद्गल द्रव्यमें जो एक कर्मत्व अवस्था आयी है और विपाक अवस्थाको प्राप्त है वह अवस्था जीवके भाव बननेमें निमित्त होती है। तो यों व्यवहारदृष्टिसे जीवभाव कर्मभावका कर्ता है और कर्मभाव जीवभावका कर्ता नहीं है, किन्तु निश्चयसे देखा जाय तो जीवभावका कर्म कर्ता नहीं और कर्मोंका जीवभात्र कर्ता नहीं। अभी यहाँ निश्चयदृष्टिको परम शुद्ध निश्चयदृष्टि नहीं कहा है, किन्तु कर्तापन भी देखा जाय और निश्चयदृष्टि भी लगाई जाय तो इस ढंगसे निश्चयसे जीवभावका कर्ता कौन है और कर्मभावका कर्ता कौन है, ऐसी चर्चा होने पर यह उत्तर मिलेगा कि निश्चयसे जीवभावका जीव कर्ता है, कर्मभावका कर्म कर्ता है और जब परम शुद्धनिश्चयकी दृष्टि लगायी तो वहाँ यह दिखेगा कि यह जीव न जीवभावका कर्ता है, न कर्मभावका कर्ता है। यह तो अकर्ता है। यह पुद्गल न पुद्गलस्थितियोंका कर्ता है, न जीवभावका कर्ता है वह तो अकर्ता है।

निजपरिचयमें यथेष्ट विहार—जैसे जिसका बहुत बड़ा बगीचा हो और उसमें उसका महल भी बना हो, वह वहांका मुख्य स्वामी हो तो वहाँ किसी भी जगह डोलनेमें शंका नहीं रहती। कभी छतपर घूमे, कभी फव्वारेपर घूमे, कभी कमरेमें जाये। कहीं भी घूमने-फिरनेमें उसे कोई शंका नहीं रहती है, अपने ही महलमें है, अपनी भूमिमें है, अपने घरमें है, ऐसे ही जिस ज्ञानी पुरुषको अपने इस चैतन्य गृहका परिचय हुआ है वह किसी भी चरणसे किसी भी नयसे जैसा चाहे विहार करे। अभी अकर्ताको समझे, अब कर्तापन समझे अब परका कर्ता समझे, जैसा चाहे अपनेको निरखे, परको निरखे, यथार्थ जाने और सब जानते हुए भी यह कहीं चूकता नहीं, इसके पैर कहीं फिसलते नहीं, सब कुछ यथार्थ समझ जाता है और सभी समझोंमें अपनी प्रसन्नताका अनुभव करता जाता है। उस प्रसन्नताका कारण निज चैतन्य-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वभावकी दृष्टि है। व्यवहारसे भी कह रहे हैं कि यह जीव भावकर्मका कर्ता है, तो भी अन्त-रङ्गमें यह प्रतीति बनी हुई है कि यह जीव तो निश्चयत: अकर्ता ही है।

ज्ञानीका सब ज्ञानोंमें मूल ज्ञान—व्यवहारदृष्टिसे देखो तो जीवभावका कर्ता कर्म है और कर्मका कर्ता जीवभाव है, और निश्चयसे देखो तो जीवभावका कर्म कर्ता नहीं और कर्म का जीवभाव कर्ता नहीं, लेकिन साथ ही एक बात और नजरमें आये कि वे दोनोंके दोनों किसी कर्ताके बिना हो नहीं सकते। तब यही फलित अर्थ निकला कि निश्चयसे जीवके परि-णामोंका कर्ता जीव है और कर्मके परिणामोंका कर्ता कर्म है। यह आत्मा स्वभावदृष्टिसे कर्मोदय रहित है, चमत्कार मात्र ही इसका परमात्मस्वभाव है, उसके विरोधी ये कर्म हैं अथवा जीवके विभाव हैं जिनकी चर्चा चल रही है। यह यथार्थत: ज्ञानी पुरुषको विस्मृत नहीं होता। जैसे मनुष्य प्रत्येक कार्योंमें, प्रत्येक प्रसंगोंमें अपने नामके लगावसे चिपके रहते हैं, उसे भूलते नहीं हैं। मेरा तो अमुक नाम है। इस नामका कभी भी विस्मरण नहीं होता, सदा ख्याल रहता है कि मैं यह हूं—ऐसी ही ज्ञानी पुरुषको अपने आपके उस निर्विकार चित्स्वरूपकी खबर प्रतीति बनी रहती है। कुछ भी चर्चा हो, कहीं भी उपयोग हो, कैसी ही परिस्थितिमें हो, निज चैतन्यस्वभावकी प्रतीति उस ज्ञानी पुरुषके सदा रहती है।

आत्मप्रकाशमें विमोहताका अभाव—देखो जीवगत रागादिक भावोंका जीव ही उपा-दान कर्ता है और द्रव्य कर्मोंका उन वर्गणावोंमें पड़ा हुआ जो पुद्गल है वह कर्ता नहीं है। यह मैं तो स्वतंत्र हूं, अपने ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमें रहने वाला हूं। यद्यपि शुद्धनिश्चयनयसे जीव अकर्ता है तो भी विचार कीजिए तो अशुद्धनयसे यह जीव कर्ता है, यह भी व्यवस्थित होता है। यों जीवके बारेमें कुछ से कुछ जो कुछ सम्भव है, विचारा जाय, चिन्तन किया जाय तो भी यह ज्ञानी जीव किसी भी परिणमनमें किसी भी चर्चामें विमोहको नहीं प्राप्त होता और अपने इस शाश्वत् शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी प्रतीतिसे चिगता नहीं है।

जीवका कर्तृत्व व अकर्तृत्व—इस प्रकार इस गाथामें दो बातें सिद्ध की गई हैं कि निश्चयसे जीव जीवभावका कर्ता है। दूसरी बात यह सिद्ध की गई है कि शुद्धस्वभावदृष्टिसे तो जीव अकर्ता है, किन्तु सर्वथा ही अकर्ता नहीं समझना। यह अशुद्धनयसे अपने परिणमनोंका कर्ता है। इस प्रकार जीवके कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों सिद्ध किए गए हैं। इसको समझकर हम अपने अकर्तास्वभावी शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूपकी ओर झुकें। अपनेको सर्व परसे भिन्न निरख-कर इस मोह रागद्वेषके बन्धनको समाप्त करें, इस ही में अपना कल्याण है।

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ॥६१॥

निश्चयसे जीवकी कर्तृत्वव्यवस्था—जिनेन्द्रदेवकी दिव्यध्वनिकी परम्परामें ऋषि संतों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

द्वारा चले आये हुए ये वचन मानना ही चाहिए कि आत्मा अपने स्वभावका कर्ता होता है, अपने भावोंका कर्ता होता है, पुद्गल कर्मोंका कर्ता नहीं है। निश्चयसे जीव अपने भावोंका ही कर्ता है। निश्चयमें दो शब्द हैं निर् उपसर्ग है और चय चयने धातुसे बना हुआ चय शब्द है। चयका अर्थ है संचय करना, इकट्ठा करना और नि: का अर्थ है निकलना। जिसमें संग्रह करना खतम कर दिया गया है उसे निश्चय कहते हैं। ऐसी दृष्टि जिस दृष्टिमें दूसरे पदार्थोंका मिलान न किया जाय उसे निश्चय कहते हैं। इस दृष्टिमें केवल एक ही पदार्थ देखा जाता है। लोकव्यवहारमें निश्चयका अर्थ निर्णय, यथार्थ, पक्का ज्ञान कहा करते हैं। यह फलित अर्थ है, शुद्ध अर्थ नहीं है। जैसे ज्ञानमें वही-वही पदार्थ जाना जाय, दूसरी बातोंका लाग-लपेट न किया जाय, जैसा है तैसा ही समझा जाय ऐसी बातमें व्यवहारिक प्रमाणिकता ज्ञान में हुआ करती है, इसलिए उसका नाम निश्चय रखा गया है। निश्चयका शुद्ध अर्थ है—जहाँ अन्यभावका संचय न किया जाय। निश्चय दृष्टिमें किसी दूसरे पदार्थका संग्रह नहीं किया जाता है। तब निश्चयदृष्टिसे आत्मा किसका कर्ता है? यह पूछने पर दूसरा पदार्थ तो यहाँ दिख नहीं रहा है, तब यही उत्तर आयेगा कि यह आत्मा अपने ही भावोंका कर्ता है।

उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपताके अवगमसे उपादेय मर्म—वस्तुस्वरूपमें यही बात पड़ी हुई है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है, ऐसा जाननेसे हमें मर्म क्या मिला कि प्रत्येक पदार्थ खुद ही खुदमें परिणमते हैं, किसी भी परपदार्थसे मुझमें कुछ नहीं आता है और न कभी किसी परपदार्थसे कोई बात मुझमें आती है। मेरा गुण, मेरी पर्याय मुझसे निकल कर किसी परमें नहीं जाता है, अर्थात् किसी भी प्रसंगमें दूसरेका धर्म मुझमें आ जाय, मेरा धर्म किसी दूसरेमें पहुंच जाय, यह बात नहीं हुआ करती है। इस शिक्षाके लिए वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है, पर सब वर्णन तो सुनें और उसका प्रयोजन न जानें कि किसलिए यह बात कही गयी है तो यों समझिये कि प्रयोजन तीन बात अटपट हो जाया करती हैं। जैसे कोई प्रसंग चल रहा है और उसमें कुछ अटपट बोल दिया, बिना प्रयोजनके कोई शब्द बोल दिया तो वे सारी ही बातें अटपट हो जाती हैं।

प्रयोजनमें कथनकी सफलता—आप कोई बात कितनी ही भली कह रहे हों, पर मेरे खिलाफ है। मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है तो मुझे आपकी बात न जंचेगी। चाहे आपकी बातें ठीक हों, सबको भी जंच रही हों, पर मेरे को बिल्कुल अटपट जचेंगी, क्योंकि उनसे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं निकलता। जिसकी दृष्टिमें जो प्रयोजन हो उसके माफिक बात हो तो उसके लिए वह ठीक है, प्रामाणिक है। शास्त्रके उपदेशकी बात चल रही हो, बड़े ऊँचे तत्त्वका भी व्याख्यान चल रहा हो और जिसके प्रयोजनमें केवल कमायी कमायी ही बसी है, धनकी और ही जिसका चित्त है, उपदेश हो चुकनेके बाद नीचे जाकर पूछा जाय—कहो भाई आज क्या

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हुआ प्रवचन ? तो बतायेंगे अजी आज तो कुछ पल्ले ही नहीं पड़ा, वहाँ तो ऐसी बातें हुईं जो किसी के कामकी न थीं। देखो जो खुदके काममें न आयीं तो उसे किसीके कामकी नहीं हैं ऐसा बता दिया, कोई भी प्रसंग हो, प्रयोजनसे वह बात मिलान खाती है तब तो वह काम की है, नहीं तो नहीं है।

प्रयोजक प्रतिपादनकी ग्राह्यतापर एक दृष्टान्त--एक बार किसी मुनिसे किसी संन्यासी का वादविवाद हो गया किसी तत्त्वचर्चापर, तो अन्तमें यह बात हुई कि किसी तीसरेसे पूछो। वह तीसरा जिसे सत्य बतायेगा कि यह ठीक कहता है वह सत्य है। अच्छा भाई चलो तीसरे के पास चलें। जंगलका मामला था। तीसरे व्यक्तिको ढूंढने चले तो जंगलमें भेड़ बकरी चराता हुआ एक गड़रिया मिला। उसीको कहा कि यह है तीसरा आदमी। इसके सामने अपनी-अपनी बात रखो। जिसको यह ठीक कहेगा वही ठीक है। संन्यासीने बड़े-बड़े संस्कृत भाषाके श्लोकोंको लेकर व्याख्यान झाड़ दिया। अब उसे वह बेचारा गड़रिया क्या समझे ? बादमें मुनि उपदेश देने लगे। मुनि भी प्रकाण्ड विद्वान थे, किन्तु साथ ही प्रतिभाशाली भी थे। बोले देखो, घर गृहस्थीमें कुछ धर्म भी करना चाहिए, कुछ अपनी आजीविका भी करनी चाहिए। यदि किसी भेड़ बकरीके कोई बीमारी हो जाय, टांग वगैरह टूट जाय तो उसका इलाज यों करवाना चाहिए, बड़े विधानसहित उस गड़रियाके मतलबकी १०–५ बातें मुनि ने बता दीं। गड़रियाकी समझमें मुनिकी सारी बातें आ गयीं। अब जब उससे पूछा गया कि किसकी बात ठीक रही तो उसने मुनि महाराजकी बातको ठीक बताया। यों ही और आगे चले, गायें चराने वाला मिला, उसे भी उसके प्रयोजनके अनुकूल दस पाँच बातें मुनिने बता दीं, संन्यासीकी बातें उसे भी बेकार और अटपट-सी लगीं। तो जिसका जिसमें प्रयोजन नहीं मिलता उसके लिए तो वे बातें बेकार और अटपट-सी जंचती हैं।

अवगत दृष्टिके समर्थनपूर्वक अशेष प्रतिपादन—ऐसी ही बात दृष्टियोंके सम्बंधमें है। जो जैसी दृष्टिको लिए हुए है उसे उस दृष्टिकी बात समझायी जाय तो उसे समझमें आती है। यदि वह हठमें है तो पहिली उसकी बातको समर्थित करना चाहिए और फिर दूसरी बात कहना चाहिए। पहिलेसे ही किसीने उसके विरुद्ध कोई बात कह दी तो वह तो उसे सुनना ही नहीं चाहता। पहिले उसे यह विश्वास तो होने दो कि जो मैं जानता हूं, उसे सही यह भी मानता है, यह भी ठीक है, इसका पहिले परिचय तो होने दो। परिचय हुआ करता है भावोंसे भाव मिलनेका, कषायोंसे कषाय मिलनेका, विचारोंसे विचार मिलनेका। जिसे समझाना है पहिले उसके विचारके अनुकूल अपना विचार प्रदर्शित किया जाय तो फिर उसे अन्य कुछ बात भी समझायी जाय। यह दो नयोंका आख्यान चल रहा है। व्यवहारदृष्टिसे तो आत्मा द्रव्यकर्मका कर्ता है, किन्तु निश्चयदृष्टिसे आत्मा अपने भावोंका कर्ता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वहितकी आवश्यकता—जब तक यह जीव अपने आपके हितकी आवश्यकता न विदित करे, अपने आपको केवल अनुभवमें न लाये, परसे असम्बद्ध जैसा है अमूर्त स्वचतुष्टया-त्मक तैसा अपने अनुभवमें न लाये अर्थात् निश्चयरूप अनुभवमें न लाये तब तक इस जीवको शान्तिका पथ नहीं मिलता। बाहरी परिग्रहोंके प्रसंगमें उनमें ममता रखकर जो मौज माना जाता है वह मौज नहीं है, आनन्द नहीं है, वह तो खेद है, दुःख है किन्तु मोहमें दुःख ही सुख कर मान लिया जाय तो वह सुख ही जंचेगा। आत्मीय आनन्द तो केवल निजस्वभाव ही दृष्टि में रहे, अन्यके विकल्प न आयें तो वहाँ उसे विदित होता है कि यह निश्चयदृष्टिका प्रताप है। हम अपनेको दूसरी बातोंसे लदा हुआ देखा करें तो वहाँ इस आनन्दकी गंध नहीं आ सकती है। दृश्यमान व ज्ञायमान संसारी जीव त्रिभागात्मक हैं। देह, कर्म, और ज्ञानादिक गुणपुञ्ज—इन तीनोंका जो एक क्षेत्रावगाह है, एक ढंग है, मिश्रण है, ऐसी स्थितिसे बना हुआ यह जगत-जाल, मायाजाल, प्राणिसमूह यह ही जिसके लिए सर्वस्व दिख रहा है वह शान्तिका कहाँसे मार्ग ग्रहण कर सकेगा? जो शान्त है उसका स्वरूप ही न समझें तो शान्ति कहाँसे मिलेगी?

नयदृष्टियोंकी अनुकम्पा—निश्चयदृष्टिकी बड़ी अनुकम्पा है। और व्यवहारदृष्टिकी भी बहुत बड़ी अनुकम्पा है। इस व्यवहारदृष्टिके पथसे चलकर हमने सब कुछ जाना, समझा और निश्चयदृष्टिका चमत्कार भी जब हम समझनेको हुए तो उसमें इस व्यवहार पंथका सहारा रहा और यह व्यवहारदृष्टि कितनी कृपाशील है कि यह निश्चयदृष्टिके निकट पहुंचानेपर अपना विनाश कर लेती है और इस निश्चयदृष्टिकी भी कितनी बड़ी अनुकम्पा है कि यह अनुभवके निकट तक पहुंचाकर खुदका विनाश कर लेती है। अन्तमें दोनों विकल्पोंसे रहित जब केवल स्वभाव ही अनुभवमें रहता है तब उसे आत्मानुभूति कहते हैं। ऐसी पात्रता हममें तब जग सकती है जब हम वस्तुकी सीमा, वस्तुका कर्तृत्व, वस्तुका स्वरूप अपनी समझमें रक्खें। आगम और निगम—ये दोनों भी जहाँ एक रूप हो जायें बात तो वही प्रामाणिक है। आगम हुए शास्त्र और निगम हुआ यह अनुभव। आगमका अर्थ है जो आया, जो प्रभुकी दिव्यध्वनि की परम्परासे आचार्योंसे संतोंसे आये उसका नाम है आगम और जो अपने आपमेंसे पैदा हो उसे कहते हैं निगम अर्थात् अनुभव। जहाँ अनुभव और शास्त्रका कथन—ये दोनों एक हो जाते हैं प्रमाणिकता तो वहाँ होती है।

ज्ञानबललब्ध उदासीनताका महत्त्व—कभी-कभी किसी उद्दण्ड अथवा जबरदस्त अपने घरके कुटुम्बमें से किसीसे परेशान होकर कुछ बुद्धि व्यवस्थित-सी जंचने लगती है तो उपेक्षा करके कहने लगते हैं कि कोई किसीका नहीं है, सब स्वार्थी हैं, मतलबी हैं, मगर उसकी यह आवाज दुःखसे निकल रही है आनन्दसे नहीं, इतना अन्तर है। ज्ञानी जनोंकी, योगी पुरुषोंकी आवाज भी ऐसी ही होती है। कोई किसीका नहीं है, सब अपने-अपने स्वरूपमें परिणत होते

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं, यह उनकी आवाज समता और आनन्दसे निकल रही है। तभी बड़े-बड़े उपद्रव होने पर भी, आक्रमण होने पर भी ये योगी पुरुष खेद-खिन्न नहीं होते हैं। कोई लाठी मारे, गाली दे, आक्रमण करे, कैसा भी अनुचित व्यवहार करे उस व्यवहारको भी ये ज्ञानी संत बुरा नहीं मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि ऐसी विशुद्ध जगी हुई है कि ये मेरा क्या करते हैं, इनका भाव है, इनका परिणमन है, इनकी कोई भी बात इनसे निकलकर मुझमें नहीं आती। रही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी बात तो पुद्गल और पुद्गलमें तो निमित्तनैमित्तिककी बात दूर करना कुछ कठिन है। किसीने लाठी मार दी तो वह तो शिरपर ही पड़ेगी, उसे कैसे दूर करे लेकिन आत्माकी बात इससे हट सकती है। ज्ञानबलसे ऐसा जान लिया कि यह शरीर जुदा है, मैं आत्मा जुदा हूं, परका इस आत्मामें तो कुछ नहीं लगा। यह तो अमूर्त ज्ञानानंदस्वरूप है, इतना ही मात्र मैं हूं। लो वह उसके प्रहारसे बच गया।

ज्ञानीका आशय—धन्य है वह ज्ञानी जिस ज्ञानीको अपना यह शरीर भी, जिसमें बंधा है कहीं छोड़कर जा नहीं सकता, वह भी ऐसा पर जंच रहा है, ऐसा भिन्न जंच रहा है जैसे और शरीर हैं और चीज है, ठीक उसी प्रकारसे। कुछ यह बात सोचनेमें कठिन लग रही होगी। भला इतना भिन्न कैसे समझा जा सकता है? वस्तुका स्वरूप जिसके निर्णयमें है, पदार्थ यह मैं उतना ही हूँ जितना मैं अपनी शक्तिसे गुणोंसे तन्मय हूं, इससे बाहर मैं कुछ नहीं हूं और ये शरीर आदिक पुद्गल अणु भी उतने ही हैं जितना कि उनका चतुष्टय है, उस से बाहर इनका कुछ नहीं है। भले ही ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, परतंत्रता है जिसमें इतना बन्धन बन गया है। फिर भी स्वरूप दृष्टिसे देखा जाय तो यह शरीर उतना ही भिन्न जंचेगा जितने कि अन्य सब पदार्थ हैं। जैसे दूधमें पानी मिला दिया तो कितना विकट मिल गया, उसे अलग-अलग करना कठिन हो रहा है, फिर भी दूध दूधमें है और पानी-पानीमें है, दूध और पानी अत्यन्त न्यारे-न्यारे हैं। जब ऐसी पदार्थकी स्वभावदृष्टि जगती है तब यह बोध जगता है—ओह! मैंने अनंतकाल मिथ्यात्वमें यों ही गवां दिया भ्रम ही भ्रममें, जो मेरा न कभी था, न है, न होगा, जब जब जो जो मिला उस उस समागमको मैंने अपनाया और मानता रहा कि यही मैं हूं।

आत्मदोषनिर्णय—भैया! जैसे आज यह शरीर है तो कुछ जरा अन्तरकी आवाजसे कुछ भीतरमें निर्णय करके यह तो बतावो कि भीतरमें क्या यह श्रद्धा पड़ी है कि यह शरीर ही मैं हूं? अपनी बात खुद खुद ही समझी जा सकती है। अपना निर्णय अन्तरमें देखो—कहने की बात और होती है। कहनेको कह दिया जाता है लेकिन बाह्यमें धन वैभवका कोई नुक्सान हो या कोई त्यागका समय हो या कोई प्रसंग हो उस समयमें उन विभावोंमें लोभ कषाय आ जाना यह तो इस बातका द्योतक है कि उसे अभी शरीरसे मोह नहीं छूटा।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कृपणोंका देहमोह—भले ही कुछ कंजूस लोग ऐसे होते हैं कि शरीरसे जितना चाहे श्रम कर डालें, जितनो चाहे सेवा कर डालें, जितना चाहे परोपकार कर लें, पर कभी पैसेके त्यागकी बुद्धि न जगे । क्या ऐसे पुरुषको भी यह कहा जा सकता है कि इसके शरीरसे मोह नहीं है ? देखो ना कितनी ही जनताकी सेवा करता है, कितना उपकार करता है, बोझ उठाता, धरता, शारीरिक श्रम करके दूसरोंका दुःख दूर करता तो इसे अपने शरीरसे मोह नहीं है तभी तो अपने शरीरसे इतनी मेहनत लिए जा रहा है, पर यह बात नहीं कही जा सकती क्योंकि शरीर तो वैभवसे भी अत्यन्त निकटकी चीज है । जिसे अत्यन्त भिन्न चीजमें भी लोग हैं, जो जड़ पदार्थ एक क्षेत्रमें भी नहीं है, बाहर पड़े हैं, जिन पर कुछ अधिकार भी नहीं है, कहो आज हैं कल न रहें, पापका उदय आ जाय तो यों ही चोरी हो गयी, माल लुट गया, ऐसे कितने ही प्रसंग रोज-रोज सुननेमें आते हैं । तो जो अत्यन्त भिन्न वस्तु है जब उसमें अत्यन्त ममता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उसे शरीरमें ममता नहीं है ।

योद्धाओंका देहमोह—योद्धा लोग रणमें हँसी खुशीसे अपने प्राण गवां देते हैं । क्या यह कहा जा सकता है कि उन्हें शरीरमें रंच भी ममता नहीं है ? अरे रणमें प्राण गवानेसे दिगदिगान्तरमें मेरी कीर्ति फैलेगी, लोग मुझे सही कहकर बड़ी सच्ची दृष्टिसे देखेंगे, यह तो हमारा देशोन्नतिके लिए कर्तव्य है, इसमें हमारी उन्नति है । यहाँ किसकी उन्नति मानी जा रही है ? इस शरीरकी, पिन्डोलेकी । तो इस शरीरकी ममताके ही कारण योद्धा लोग अपने शरीरका विनाश कर देते हैं तब क्या उनका शरीरसे मोह न कहा जायगा ?

ममताकी परख—जब तक सर्वपरसे विभक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र निजकी सुध न हो तब तक धर्मदृष्टि हुई है—यह बात कैसे कही जा सकेगी ? सभी लोग अपनी-अपनी बातमें अंदाज कर लो । कितनी कुटुम्बसे आत्मीयता है, कितनी वैभवमें आत्मीयता है । शरीरकी आत्मीयताका अभी विचार न करें । पहिले अत्यन्त भिन्न पदार्थोंकी छांट करलो कि मेरी इन पदार्थोंमें कितनी आत्मीयता लगी हुई है ? जब भिन्न पदार्थोंमें अहंकार और ममकार बना हुआ है तो यह तो पूर्ण निश्चित है कि इसको शरीरसे भी भेदविज्ञान नहीं जगा है । हाँ बाह्य पदार्थोंमें भी ममता न हो तब शरीरोंपर प्रयोग करके देखो कि मुझे इसमें ममता है अथवा नहीं है । यदि बाह्य पदार्थोंमें इतनी घनिष्ट आत्मीयता है तो अपने को अभी एक मिथ्यात्व की दशामें जानकर कुछ अपनेपर खेद होना चाहिए । यह व्यर्थकी दृष्टि, व्यर्थका ममत्व क्यों हो रहा है ? क्यों मैं अपनी बरबादी अपने आप ही किए जा रहा हूं ? उस पर खेद होना चाहिए और उस अपराधको मिटानेके लिए जो उपाय है—सत्संग करना, ज्ञानार्जन करना इन उपायोंको अविलम्ब अधिक उपयोगके साथ किया जाना चाहिए ।

स्वरूपपरिचय—भैया ! निर्मोहताकी झलक जब आनेको होगी उससे पहिले यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जीवमें निश्चयदृष्टिका विज्ञान इसके उत्पन्न होगा ही। यह मैं आत्मा केवल अपने भावोंको किया करता हूं। यह मैं आत्मा जो मुझमें परिणत हुए भाव बनते हैं उन भावोंको ही भोगा करता हूं। इसी कारण यह मैं अपने गुणपर्यायोंका स्वामी हूं, अधिकारी हूं, ऐसा निज एकत्व का परिचय होने लगता है जब निर्मोहताकी अवस्था आनेको हुआ करती है। तो यह एक स्थूल उपाय सब ही जानते हैं। निर्मोहता वहाँ ही तो हुआ करती है जहाँ यह बोध हो जाय कि मेरा दूसरा कोई नहीं है, मेरा तो मात्र मैं ही हूं। मैं दूसरेका आसरा तकूं तो उससे कुछ सफलता मिलनेको नहीं है। मैं अपने आपके ही मनको समझा लूँ, अपने आपमें ज्ञानबल बढ़ा लूं, अपने आपको ही सन्तुष्ट कर लूं तो वह उपाय मेरी शान्तिके लिए सही है। बाह्य पदार्थों में मुझमें कुछ आता नहीं है, मेरा कहीं कुछ नहीं है ऐसा स्पष्ट निर्णय रखना चाहिए।

जगजालमें शान्तिका अनुपाय—जरा गंभीरतासे अपने हितकी दृष्टि कीजिये। जो भी समागम आज मिले हैं वे सब जरूरतसे ज्यादा हैं। मोहमें तीन लोकका वैभव भी मिल जाय तो भी वह कम है, पर व्यवहारिक दृष्टिसे देखो जितना जो कुछ भी मिला है वह सब जरूरत से कई गुणा ज्यादा है। जिनके पास आपसे बहुत कम धन है क्या उनका गुजारा नहीं होता है? मान लो जितना जो कुछ आपको मिला है उससे कई गुणा कम आपके पास धन होता तो क्या गुजारा न चलता? एक दृष्टि भर बनानेकी बात है। यथार्थ ज्ञान बनाकर अपनेमें सन्तोष मानना चाहें तो सब निभ सकेगा, किन्तु परपदार्थोंके संचयकी बुद्धि मनमें हो तो वहाँ शान्तिका मौका नहीं मिल सकता, चाहे वह कैसी भी स्थिति हो। क्या हो रहा है इस जमानेमें? जो करोड़पति हैं वे भी चैनसे नहीं बैठ पाते हैं, वे भी निर्विकल्प धर्मपालनमें नहीं लग पाते हैं। तो इस लौकिक वैभवके हिसाबसे हम क्या सोचें? कैसे हम महान बन पायेंगे? यह सब मायाचार है, धोखा है, इसमें कहीं भी शान्ति नहीं मिलती है। शान्ति मिलेगी तो एक शुद्धज्ञानमें, आत्मज्ञानमें, उपेक्षाभावमें। शान्तिका उपाय कोई दूसरा नहीं है। यह बात हमें निश्चयदृष्टिसे अधिक प्राप्त होती है, क्योंकि इसमें चयका काम ही नहीं है। यहाँ चयदृष्टि से अपने स्वरूपको निरखा जा रहा है कि निश्चयसे यह जीव अपने भावोंका ही कर्ता है। पुद्गलकर्म आदिक किसी अन्य पदार्थका कर्ता नहीं है। ऐसा निश्चचयदृष्टिसे आगममें ऋषि संतोंने बताया है।

कम्मं पि सगं कुव्वदि जेण सहावेण सम्ममप्पाणं।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥६२॥

निश्चयदृष्टिसे कर्तृत्वका निर्णय—इस गाथामें निश्चयदृष्टिसे जीव किसका कर्ता है और कर्म किसका कर्ता है, यह बात कही गयी है। निश्चयसे देखा जाय तो एक ही पदार्थमें अभिन्नकारकता दृष्टिमें आती है। परम शुद्ध निश्चयसे तो कारकताका विकल्प ही नहीं उठता

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, पर जहाँ कारकता भी न हो और अद्वैत दृष्टि की जाय वहाँ क्या परिस्थिति होती है, इसका वर्णन इस गाथामें है। कर्म अपने भावोंसे अपने परिणमनसे अपनेको करते हैं और जीव अपने परिणमनसे अपने परिणामोंको करते हैं। उपादान दृष्टिसे जो पदार्थ जिस रूप परिणम रहा है उस ही का उसे कर्ता कहा जाता है।

जीव और अजीव तत्त्व—यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि यह पदार्थ वस्तुतः कितना है, किसका अधिकारी है, कैसा परिणमन है, कहाँ तक इसका विस्तार है—ये सब बातें निरख लेनी चाहियें। एकत्वदृष्टि कहो, उपादानदृष्टि, निश्चयदृष्टि, अद्वैतदृष्टि ये सब इस प्रसंग में एकार्थक शब्द हैं। यहाँ दो तत्त्व रखे गये हैं जिनके सम्बन्धमें निर्णय किया जा रहा है। जीव और कर्म मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वोंमें मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। शेषके ५ तत्त्व पर्यायरूप हैं। पर्यायरूपमें तो इन सात तत्त्वोंको ही रख दिया गया है क्योंकि निर्णयका प्रसंग है और जीव और अजीव तत्त्वमें भी जहाँ इन ५ पर्यायोंरूप बना करता है ऐसी दृष्टि रक्खी है, वहाँ शुद्ध स्वभाव नहीं देखा गया है, लेकिन इन सात तत्त्वों को जानकर भी प्रयोजनभूत शुद्धस्वभावका दर्शन उपादेय है। परन्तु, जिसके हम भेद करेंगे, उसकी उस रूपमें पहिलेसे भावना बनायें और जिसके भेद करने चलें तो वह भी एक शुद्धरूप के देखने पर न बन सकेगा। यहाँ जीवका अर्थ जीव है और अजीवका अर्थ कर्म है।

जीवाजीवविषयक पञ्च तत्त्व—जीवमें कर्मका आना इसका, नाम आस्रव है और जीवमें कर्मका न आना, इसका नाम संवर है। जीवमें जो कर्म पहिलेसे बंधे हुए हैं उनका एक देश छूटना इसका नाम निर्जरा है और जीवसे कर्मोंका बिल्कुल जुदा हो जाना इसका नाम मोक्ष है। ये पांचों पर्यायें जैसे अभी जीव और कर्म ऐसी द्वैतदृष्टि रखकर बतायी हैं ऐसे ही केवल जीवमें भी ये पाँचों पर्यायें देख सकते हैं।

जीवाजीवविषयक पञ्च तत्त्व—यद्यपि ये पांचों पर्यायें एक दूसरेका निमित्त पाये बिना नहीं हुई हैं, लेकिन हों, फिर भी परिणमन एकका एकमें निरखा जा सकता है। जैसे दर्पणमें मुख देखा तो इस मुखके निमित्तसे दर्पणमें वह छाया पड़ी है, प्रतिबिम्ब पड़ा है, इतने पर भी मुखको नहीं देखे, केवल छायाको देखे, यह तो हो सकता है। या किसी वृक्षकी उसमें छाया पड़ी है तो हमने वृक्षको नहीं देखा, उसकी छायाको देखा, ऐसा तो हो सकता है। इसी प्रकार यद्यपि जीवमें ये रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं कर्मोदयका निमित्त पाकर, लेकिन इन कर्मोंके विषयमें कुछ तर्क वितर्क न करें, केवल जीव भावको ही नजरमें लें तो क्या ले नहीं सकते ? यों ही इस जीवमें भी पांचों पर्यायें बनीं आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष और कर्ममें भी ये पाँचो पर्यायें बनीं। तब वहाँ यह कहना होगा ना कि इस जीवमें जो रागादिक भाव आये वे आस्रव हैं। ज्ञानबलसे जीवमें जो रागादिक भाव न आ सकें, यह सम्वर है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवमें रागादिक भाव बँध जायें, इसे यह जीव ग्रहण करे, हठ करे वह बंध है । जीवोंमें से रागादिक भाव शिथिल हो जायें, दूर होने लगें, नाश होने लगें यही निर्जरा है और विभाव बिल्कुल न रहें इसका नाम मोक्ष है । देखो ये सब काम जीवने अपनेमें अपने परिणमनसे किया ना कि कर्मके परिणमनसे किया ?

कर्मविषयक पञ्च तत्त्व—अब कर्मकी बात कर्ममें देखो—कर्मद्रव्यमें कर्तृत्व आना, यह आस्रव है ।कर्ममें कर्मत्व बना रहना यह बंध है । कर्ममें कर्मत्व आना रुक जाय यह सम्वर है । कर्ममें कर्मत्व अर्थात् स्थिति अनुभागका खण्डन होना निर्जरा है, और कर्ममें कर्मत्वका दूर हो जाना यह मोक्ष है । यह पंचपर्यायोंका वर्णन तीन प्रकारसे हुआ ना, उभयदृष्टिसे, जीव-दृष्टिसे और कर्मदृष्टिसे । अब यहाँ जब व्यवहारदृष्टि लेते हैं तो जीवका और कर्मका परस्पर आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष निरखे जाते हैं और जब निश्चयदृष्टि लेते हैं तो जीवमें ही जीवकी पर्यायें, कर्ममें कर्मकी अवस्थाएँ ये जुदे-जुदे अद्वैतमें निरखी जा रही हैं ।

कर्मपरिणतिविषयक अभिन्न कर्तृकरणकर्मता—अब कर्मोंकी विशेषरूपसे बात निरखिये कि कर्मत्व रूप बन रहे पुद्गल स्कंध हैं ना, इस दृष्टिसे कर्मका कर्म ही कर्ता हुआ, कोई दूसरा उन्हें कर्मरूप नहीं परिणमाता । ये कार्माणवर्गणाएँ ये द्रव्य कर्मत्वरूप गमनके लिए कर्मत्वके लिए कर्मत्व दशाको पानेकी शान्तिरूपसे साधक कौन हुआ ? ये कर्म ही हुए । तो यह कर्म ही साधन बना, करण बना । निश्चयदृष्टिसे बतायें तो वहां अभिन्न साधकपना ही नजरमें आयगा । तो ये कर्म अपनेमें ही कर्मत्वरूपसे बन सकें, ऐसी शक्ति पड़ी हुई है । शक्ति रूपसे यही स्वयं अपने आपके कर्मबँधनका कारण बन गया । अब यहाँ कर्मने क्या किया ? तो प्राप्त जो कर्मत्व परिणमन है वह कर्मत्व ही हुआ ना, कर्ममें कर्म अवस्थाको पाया, अतएव यह ही कर्म कर्म बना, कर्म कारक बना ।

कर्मविषयक अभिन्न अपादानकारकता—अब ऐसे कार्माण द्रव्यमें कर्मत्व आये तो किस प्रकारसे आये, इसमें ढंग क्या बना ? इसमें जो पहिली अकर्तृत्व स्थिति थी उसका विनाश हुआ और कर्तृत्वस्थिति आयी । यह कार्माणवर्गणा कर्मरूप बननेसे पहिले कर्मरूप न थी । अब कर्मरूप बनी है तो अकर्मत्व स्थितिका तो विलय हुआ और कर्मत्वस्थिति आयी । इस प्रसंगमें हुआ क्या ? वह तो ध्रुव ही रहा ना द्रव्य । उस ध्रुव द्रव्यमें से यह कर्मत्व अब निकलनेको हुआ तो कर्मदशा उदित हुई, पर जो मूलभूत द्रव्य है यह विनष्ट नहीं हुआ, इस कारण उपादान भी यह द्रव्यकर्म हुआ । जैसे वृक्षसे पत्ता गिरा, हुआ क्या वहाँ ? पहिले सपत्र दशा थी वृक्षकी, अब इस वृक्षकी अपत्र दशा बनी तो अपत्र दशामें भी वही वृक्ष था और पत्ते का निकलना हुआ तब भी वहीका वही वृक्ष ध्रुव खड़ा है । तो जो ध्रुव रहा करे जिससे व्यक्ति होती है उसे अपादान कहते हैं । तो ध्रुव कौन है ? कर्मत्वसहित बननेपर वह वही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर्म है, यों अभिन्न अपादान कारक भी कर्म हुआ।

कर्मविषयक अभिन्न सम्प्रदानता—यह कर्म कर्मरूपसे किसलिए परिणमा, किसके लिए परिणमा, उसे गरज क्या थी, प्रयोजन क्या था जो पड़ा हुआ था और बन गया। प्रयोजन क्या था? प्रयोजनकी बात, मतलबकी बात, खुदगर्जीकी बात, ये चेतन मनुष्य आदिक ढूंढ़ा करें, कल्पनामें आयी बात, मनकी बात, लेकिन जो एक-एक साधारण प्रयोजन है जिसमें खुदगर्जीकी बात घुसी हुई है वह साधारण रूपसे प्रयोजन प्रत्येक द्रव्यमें यही है कि उस द्रव्य की सत्ता बनी रहे। प्रत्येक द्रव्यके परिणमनका प्रयोजन इतना ही है कि उस पदार्थका अस्तित्व बना रहे। न परिणमे तो अस्तित्व न रह सके। सत्ताका स्वरूप ही ऐसा है कि वह बने, बिगड़े और बना रहे। तो कर्मरूप परिणाम हुआ तो क्या, वह कार्माणवर्गणा अकर्मरूप परिणमा हो तो क्या, जिस चाहे रूप परिणमे, उन सब परिणमनोंका प्रयोजन द्रव्यका अस्तित्व कायम बनाये रखना है। उस समय जो कर्ममें कर्मपरिणाम रूप उत्पन्न हुआ है उस कर्मके द्वारा आश्रयमाण यह कर्म ही है, इसीलिए सम्प्रदान यह कर्म है।

सम्प्रदानताकी स्थितियां—सम्प्रदानताको समझनेके लिए ये दो दृष्टियाँ इसमें गर्भित हैं। एक तो इससे सिद्धि क्या होती है, किसलिए होती है। दूसरी बात ये कर्म किसका आश्रय करते हैं? आश्रयमाण कौन हुआ? जैसे यह कहा जाय कि इस धर्मात्माने गरीबके लिए कम्बल दिया तो काम क्या हुआ? कम्बल दिया। उस कम्बलने अब आश्रय किसका लिया? उस कम्बलके द्वारा आश्रयमाण कौन है? वह गरीब है। तो इसका सम्प्रदान गरीब हुआ, ऐसे ही कर्ममें जो कर्मत्वरूप परिणमन होता है वह परिणमन आश्रय किसका ले रहा है? उस ही द्रव्यका। तो वह कार्माणवर्गणा रूप द्रव्य ही उस कर्मत्वका सम्प्रदान हुआ। इसी प्रकार वह कर्मत्व जो परिणमन है वह किस आधारमें हुआ, कैसे हुआ, उसका आश्रयमाण परिणामका आधार देखो तो वही कर्म है।

कर्मविषयक अभिन्नाधिकरणता—अब आधार देखिये—कर्मत्व हुआ? कर्ममें कर्मत्व हुआ। कोई पूछे कि तुमने यह प्रभुभक्ति कहां की? तो लोग यही कहेंगे कि मंदिर जी में की। तो द्वैत दृष्टि वाली यों भिन्न चीज दिख रही है, उसने मंदिरमें प्रभुभक्ति की, और किसी समझदारको, तत्त्वमर्मज्ञको यह दिख रहा है कि इस आत्माने आत्मामें प्रभुभक्ति की, मंदिरमें नहीं की। प्रभुभक्तिका आधारभूत परमार्थसे यही आत्मा अधिकरण है। यों ही कर्मका जो कर्मत्व आया है उस कर्मत्वका आधार यही पुद्गल कर्म है। यों अधिकरण भी अभिन्न रूपसे यही कर्म हुआ।

अभिन्नकारकताका एक उदाहरण—एक सांप ऐसे ही सीधा पड़ा हुआ था। वह अब गोल बनकर अपने आपमें समा गया अर्थात् अपना एक गोल घेरा बना लिया दोहरा तेहरा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जैसे कि सपेरे लोग जब बीन बजाते हैं और सर्पका खेल करते हैं तो वह सांप पूरा घेरा बनाकर थोड़ा फन उठाकर रह जाता है। उस सांपने क्या किया ? गोल बना लिया अपनेको, कुँडली बना ली, तो इस सांपने किसको बनाया ? अपनेको बनाया है ? और इस सर्पने किसकी शक्तिसे ऐसा बनाया ? अपनी शक्तिसे ऐसा बनाया। किसके लिए ऐसा बनाया ? खुदके लिए बनाया, और किससे बनाया ? अपने शरीरसे बनाया। पहिले वह सीधी दशामें था, उस दशाका परित्याग करके अब यह गोल दशामें आ गया। इतनेपर भी वह शरीर वही है ना ? सो ध्रुव है यह अपादान हुआ, और यह गोल किसमें बनाया ? कहां बनाया ? अपनेमें बनाया। तो जैसे इस सर्पने अपने गोलाकार रूपमें परिणमनका काम किया तो वहां सब अभिन्नकारक हैं, ऐसे ही जानना कि इन द्रव्यकर्मोंने जो भी कर्मत्वरूप परिणति प्राप्त की वह कर्मने कर्मशक्तिसे, कर्मके लिए, कर्ममें कर्मसे कर्मको किया। यह निश्चयदृष्टिसे चर्चा चल रही है।

अभिन्नकारकताका द्वितीय उदाहरण—किसी महिलाने भोजन बनाया, कढ़ी पकाया तो उस कढ़ीने क्या किया ? अपने आपमें अपनी शक्तिसे अपनी कचाई अवस्थाको त्यागकर एक पक्की अवस्थामें आयी। वहां महिलाने भी कुछ किया क्या ? व्यवहारमें यों ही दिखता है, पर निश्चयसे कढ़ीको महिलाने नहीं पकाया। सर्वत्र यही बात है। लोग तो सभी प्रसंगोंमें अपनी ही चेष्टा करते हैं और भ्रममें ऐसा कहा करते हैं कि मैंने अमुकको यों किया। भिन्न कारकमें द्वैतदृष्टिकी सृष्टि है। तो इस प्रकार अभिन्न षट्कारक रूपसे अवस्थित यह कर्म किसी अन्य कारककी अपेक्षा नहीं करता।

अभिन्नकारकताके अन्य उदाहरण—जैसे किसी पुरुषने तबला बनाया, क्या किया ? उसने हाथके थपेड़े लगाये, पर उस तबलामें से जो आवाज निकली, यह तबला क्या अपनेमें आवाजरूप परिणमनेके लिए भी किसीकी अपेक्षा रखता है ? थपेड़ लग गयी, अब क्या यह तबला अपनी आवाज उत्पन्न करनेमें किसीकी अपेक्षा रखता है ? इसका दृष्टान्त दिया है दिव्यध्वनि। प्रभुकी दिव्यध्वनि स्वयं खिरती है। किसीकी प्रेरणासे, किसीकी जबरदस्तीसे नहीं खिरती है। व्यवहारदृष्टिमें ऐसा लगेगा कि भव्य जीवोंके पुण्यकी ठोकर लगी, ठीक है, भव्यों के पुण्योदयका भी कारण रहा, और और कुछ भी कारण ढूँढ़ लो, फिर भी जब प्रभुका शरीर एक दिव्यध्वनिरूप परिणम रहा है उस परिणमते हुए की स्थितिमें वह किसीकी अपेक्षा रखता है क्या ? यह मर्मकी बात अतीव सावधानीसे समझनेमें ठीक जंचेगी।

अभिन्नकारकताका एक और अन्य उदाहरण—एक पुरुषने गाली दी और यह दूसरा पुरुष क्रुद्ध होने लगा। व्यवहारदृष्टिसे तो यों कहा जायगा कि इस गाली देने वालेने ख्वामख्वाह इसे क्रोधी कर डाला, लेकिन इस गुस्सा करने वालेने अपने गुस्सेके परिणमनमें किसीकी अपेक्षा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं की। भले ही वहाँ गाली देने वाला निमित्त बन गया। इतना माननेके बाद अब यहाँ परिणमन विधिसे देखो तो इस क्रोध करने वालेने क्या क्रोध करनेके लिए किसीकी अपेक्षा की। यह तो होगा।

जीवमें अभिन्नषट्कारकताकी दृष्टि—इस चीजको और गम्भीर दृष्टिसे सोचनेपर यह व्यवस्थित होना है कि इस कर्मने जो कर्मत्वरूप परिणमन किया इस परिणमनमें किसीकी अपेक्षा नहीं की। हाथ लगा मृदंगमें, इसे न तकना, यह तो दूरकी बात कही जा रही है, भीतरकी बात नहीं है, वस्तुके बाहरकी बात भी दिखती नहीं है अभी। क्योंकि सब भीतरी चीजें सभी खोजी जा रही हैं, निश्चयदृष्टि की जा रही है, यह तो कर्मके सम्बंधमें कर्मका कर्मरूप परिणमनकी बात निश्चयदृष्टिसे कही गयी है। अब जीवके सम्बंधमें ऐसी षट्कारकता देखो तो वहां भी यह नजर आयगा कि इस जीवके जीवको किया, परिणममान अपनी शक्तिसे किया, अपने लिए किया, अपनेसे किया, अपनेमें किया।

जीवद्रव्यमें अभिन्नषट्कारकताके अवगमकी सरलता—इस जीवद्रव्यके सम्बंधमें इस षट्कारकताका वर्णन जब किया जायगा तब इसकी बात बहुत अधिक समझमें आयगी। कर्मों की बात समझनेमें कुछ हैरानी हुई होगी और हैरानी होनेका कारण यह हैं कि कर्म एक तो कुछ दिखते भी नहीं हैं, स्पष्ट समझमें भी नहीं आते। उसकी अपेक्षा अगर इन चौकी, चटाई, दरीकी बात कही जाती तो ठीक समझ जाते। जैसे अभी उदाहरणमें सांपकी बात कही तो वह झट समझमें आ गयी होगी। ये कर्म दिखते नहीं हैं, सूक्ष्म हैं और फिर उस कर्ममें कुछ दौड़ लगाये बिना, चुपचाप उसीको कुछ कह डाला, यह बहुत गुप्त बात-सी लगी कही गयी है और चुपचाप पद्धतिसे कही गयी है, उसका कुछ भी विस्तार नजरमें नहीं आया, अतएव कर्ममें जो षट्कारकताका वर्णन किया है यह कठिन सा लगा है। लेकिन जीवोंके विषयमें यही सब बातें बहुत साफ-साफ समझमें आयेंगी। और वे सब बातें रुचिकर भी होंगी। अंतरङ्ग भी कह उठेगा कि बात बिल्कुल ठीक कही जा रही है, यह तो इसमें गुजर रहा है। यद्यपि जीवोंकी बात धर्मादिक द्रव्योंकी तरह कठिन है थोड़ीसी कि उस जीवमें अभिन्नषट्कारकताका बता दी जाय, लेकिन वह स्वयंकी समझमें यों आयगी कि खुदकी चर्चा है, खुदकी खुद के अनुभवमें है, खुदपर गुजर रही है। अतएव यह जीव यद्यपि कर्मोंसे अत्यन्त सूक्ष्म है, कर्म तो फिर भी पुद्गल हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिंड हैं, किन्तु यह जीव तो रूप, रस आदिसे रहित अमूर्त है, फिर भी जीवकी कोई बात कही जाय तो वह शीघ्र अपनी समझमें उतरती है। अब उस जीवद्रव्यमें से यह षट्कारकता अर्थात् जीव किसे करता है, किसके द्वारा करता है, यह कौन करता है, किसके लिए करता है, किसमें करता है ? यह षट्कारकता बतायी जायगी।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सम्बन्धनामक कारकके अभावका कारण—यहां दृष्टिमें एक खास बात लेनी है कि इन षट्कारकोंमें सम्बन्ध नामका कारक नहीं रखा। जैसे कहते हैं ना मेरा मकान, मेरी दुकान, मेरा देह, मेरा घर यह तो किसी कारकमें नहीं आया, क्यों नहीं आया ? ये सब बातें बिल्कुल झूठ हैं, गप्प हैं और गप्प वाली बातसे किसीका कोई प्रयोजन नहीं है। यहां तो वस्तुकी बात वस्तुको दिखाई जा रही है।

जीवकी अभिन्नकर्तृकर्मरूपता—जिस प्रकार कर्ममें कर्मका अभिन्नकारकपना बताया है इसी प्रकार जीवमें भी अभिन्नषट्कारकता होती है। यह जीव जो असंख्यातप्रदेशी अपनी गुणपर्यायमें तन्मय सद्भूत द्रव्य है उसमें जो भी रागद्वेष आदिक भावपर्यायें होती हैं, उन भाव पर्यायोंके रूपसे प्रवर्तमान हो कौन रहा है ? यही जीव पदार्थ। इस कारण उन कर्मोंका स्वतंत्र कर्ता होनेसे अर्थात् रागद्वेष आदिक भावकर्म प्रवर्तमान होनेसे यह जीव कर्ता है, और इस जीवमें उत्पन्न हुए विभाव इस जीवके कर्म हैं। इस जीवके द्वारा प्राप्त करने योग्य भाव क्या है ? इस जीवने क्या पाया ? जीवका विभाव जो पाया जाता है, जिसे पा लिया गया हो उसको कर्म कहते हैं। यों जीव ही कर्ता है, जीव ही कर्म है।

परके कर्तृत्वकी असंभवता—अपने आपमें इस मर्मको घटाते हुए सुननेसे स्पष्ट हो जायगा, यह मैं जो इस देहपिंडके भीतर गुप्तरूप विराजमान हूं, बड़े सुरक्षित मजबूत किलेमें रहता हुआ पुरुष जैसे सुरक्षित है, ऐसे ही यह मैं निश्चयसे तो अपने स्वरूपके किलेमें बैठा हुआ सुरक्षित हूं और देहमें रहता हुआ भी अंतः सुरक्षित हूं, ऐसा यह मैं कर किसे रहा हूं ? अपनी-अपनी बात सोचो। जिसमें जैसे भाव हो रहे हैं, जिसकी जैसी विचित्रता है अपने उन भावोंको कर रहा हूं। इसके आगे और क्या कर रहा हूं ? शास्त्र सुनने बैठे हों तो वहां भी अपने आपमें जो भी पक्ष और विकल्प हुए हैं उन विकल्पोंको बना रहा हूं। ये वचन आदिक तो उनका निमित्त पाकर निमित्तका निमित्त परम्परा रूपसे ये वचन निकल जाते हैं, इन वचनोंका मैं कर्ता नहीं हूं। ये तो जिह्वा, ओंठ, कंठ आदिकका निमित्त पाकर ऐसे हो ही जाते हैं। यदि कोई वैज्ञानिक ऐसा ही मुंह, ऐसा ही लचीला ओंठ, कंठ, जिह्वा आदि बना ले और उनको इस तरह प्रेरित करे कि वटन स्टाप वगैरा भी लगा सके तो सम्भव है कि वहांपर भी वचन निकल जायेंगे। वह तो पुद्गल पुद्गलका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। न बन सकनेकी बात और है। इन वचनोंका मैं कर्ता नहीं हूं और कभी किसी भावुकतामें कुछसे कुछ हस्त उठायें, इशारा करें, इन सब क्रियावोंका भी कर्ता मैं नहीं हूं। केवल एक अपने भावोंका कर्ता हूं, विकल्प कर रहा हूं।

अपने ही कर्तृत्वकी युक्तता—सब अपनी-अपनी सोचते जाइए। कितना ही तृष्णावश वैभव संचयका विचार किया जा रहा हो, वहां भी आप वैभवका कुछ नहीं कर रहे हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

केवल एक विकल्पका विस्तार बनाया जा रहा है। किसी भी परिस्थितिमें कोई जीव किसी अन्य द्रव्यका करने वाला नहीं होता। निमित्त पाकर अन्य द्रव्योंमें कुछ परिणति हो जाती हैं तो उपचारसे उसे कर्ता कह दिया जाता है। वस्तुतः जिस परिस्थितिके रूपसे जो प्रवर्तमान हो वही कर्ता कहलाता है और उस द्रव्यमें जो परिणति चल रही हो वही कर्म कहलाता है। यों प्रत्येक पदार्थ अपनी ही अवस्थाके करने वाले हैं और उनका कर्म उनकी अवस्थामात्र है। इन विभावोंको इस जीवने किया किस शक्तिके द्वारा? वह शक्ति भी किसी दूसरे द्रव्यसे खींचकर प्रयोग की गई हो, ऐसा नहीं है। किन्तु जो भी विभाव हो रहा है उस विभावपर्याय रूपसे गमन करनेकी परिणमनकी शक्तिरूप यह स्वयं जीव है। इस जीवने राग किया। किसे किया? जीवकी ही किसी दशाको किया। किस शक्तिके द्वारा किया? जीवमें ही ऐसी परिणमनकी शक्ति है उसके द्वारा किया। यों इन विभावोंके करनेका करण भी यह जीव स्वयं है।

वस्तुगतता— भैया! यह चर्चा बड़ी सावधानीसे सुननेकी है। कहीं नयकी दृष्टि चूक न जाय। हालांकि ये विभाव द्रव्यकर्मके उदयका निमित्त पाकर ही हो पाये हैं। केवल एक जीवमें ही उपाधि बिना, परसम्पर्क बिना होता हो ऐसा नहीं है। फिर भी जब निश्चयदृष्टि लगाते हैं तो वहां यह दिख रहा है कि ये सब स्वतंत्ररूपसे प्रवर्तमान होकर जीवके द्वारा हो रहे हैं। इसमें परका सम्पर्क नहीं है। किसी घरके ही बच्चेको किसीने पीट दिया और वह बच्चा रो रहा है तो क्या वह मारने वालेकी शक्तिसे रो रहा है? वह अपनी ही शक्तिसे अपने ही आपमें अपना परिणमन कर रहा है। भैया! निश्चयदृष्टिसे जितना तत्त्व तकना है उतने तत्त्वको देखनेके लिए कहीं बाहर अगल-बगल झांकनेकी जरूरत नहीं है कि कौन उपाधि है, कौन निमित्त है? इस तरहके विकल्पोंको उपयोगमें अभी स्थान न दें। वस्तुमें वस्तुगत बात देखी जानेको निश्चयदृष्टि कहते हैं और वस्तुमें वह भाव स्वभाव तो न था, किन्तु हो गया, यों अगल-बगल तक कर निर्णय करनेका नाम व्यवहार दृष्टि है।

जीवमें अभिन्नकरण कारकता—यह जीव ही स्वयं अपने परिणमनमें साधकतम है। जैसे कोई मनुष्य बिना हाथ लगाये पद्मासनसे बैठ गया तो बतावो इस पद्मासनका करने वाला कौन है? यह मनुष्य, और किया किसे? अपने अंगको। किसके द्वारा किया? अपनी शक्ति और किसलिए किया? इसमें सुख दुःख आदिक जो परिणमन होते हैं वे खुदके लिए होते हैं, और किससे किया? इस देहसे। पद्मासन न लगाये तब भी यह देह ध्रुव है, लगाये तब भी यह देह वही की वही है। इस ध्रुव देहसे एक पद्मासनकी अवस्था बन गयी। और किसमें बनी? यह काम इस देहमें ही तो हुआ, यहां कोई दूसरा कर्ता नहीं, कर्म नहीं, करण नहीं, सम्प्रदान नहीं, अपादान नहीं, अधिकरण दूसरा नहीं। एक मोटा दृष्टान्त है। यों ही जीवके भाव परिणमनका करने वाले दूसरे कर्म करण आदिक तो नहीं है। यह जीव अपने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ही उस प्रकारके पर्यायरूप परिणमनकी शक्तिसे पर्यायरूप परिणमनको किया करता है।

नयोंके अविरोधका ज्ञानधाम—जैसे जिन दो भाइयोंमें बड़ा घनिष्ट प्रेम है। किसी एक कामको करते जा रहे हैं। वहां किसीसे कहीं कुछ क्रिया हो गई, कुछ काम कम बन रहा तो दूसरे भाईको भी विरोध नहीं है, अविरोध रहते हैं, इसे कहते है हिल-मिलकर एक कार्यको पूरा कर लेना। कोई प्रधानतासे कर रहा, कोई गौण रूपसे कर रहा, फिर भी चित्तमें मलिनता नहीं है। ऐसे ही वस्तुस्वरूपके प्रतिपादनमें ये निश्चय और व्यवहारनय दोनों कार्य कर रहे हैं। हितमार्गमें मोक्षमार्गमें यह निश्चयनय कुछ अधिक रूपसे कार्य कर रहा है, पर अविरोध है, और किसी-किसी प्रसंगमें यह व्यवहारदृष्टि भी उस निश्चयदृष्टिके लक्षणका पोषण कर देती है। जैसे अय परकृत विभावो तुम अलग हटो, ऐसा साहस इस व्यवहारदृष्टिने कराया है, और अन्त:में सहज ज्ञानानन्दस्वरूप रहो, यह भीतरसे निश्चय साहस दे रहा है।

मूढतामें मूर्च्छाका भार—यह जीव केवल अपने ही परिणमनका कर्ता है। अब सोच लीजिए—जितना मूर्छाका भार बना रक्खा है और इतना ही नहीं किन्तु उसमें इतना पक्षपात बढ़ गया है कि ये ही परिजन कुटुम्ब २–४ जीव ये ही सब कुछ मेरे हैं, और ये विभाव वैभव जो कुछ पाया है वे सब मेरे हैं। ये जायेंगे कहांसे ? इन्हें कौन छुड़ा लेगा ? रजिस्ट्री आफिसमें दर्ज है, म्यूनिसिपल्टीमें नाम चढ़ा है। मैं इन दुकान मकान आदिका मालिक हूं, ये तो मेरे ही बनकर रहेंगे। ऐसी कुछ भीतरमें जो दृष्टि जमी है ना अथवा यह पुरखोंसे चला आया है, इसे कौन छिना लेगा, यह तो मेरा ही बनकर रहेगा। मेरा जो वैभव है वह सब बैंकमें जमा है। बैंकमें अपने निजी तालेमें रखा है, हम सब कुछ बड़ी सावधानीसे बड़ा पक्का काम किया करते हैं। भाई यह सब ठीक है। पर यह तो बतावो कि शरीरपर भी कुछ आप का पक्का काम चल सका है या नहीं ? जायगा कहां यह देह ? मैं ठीक समयपर पथ्यका भोजन देता हूं, कसरत करता हूं, भूखसे कम खाता हूं। जायगा कहां यह देह ? अरे ये सब कल्पनाकी बातें हैं। सब कुछ चला जायगा। धीरे-धीरे जाय या एकदम ही एक सेकेण्डमें चला जाय। रहेगा क्या ?

धर्मदृष्टि बिना मनुष्योंकी पशुओंसे अविशेषता—यह जीवद्रव्य समस्त पदार्थोंसे निराला अत्यन्त स्वतंत्र तत्त्व है। इस निज तत्त्वपर दृष्टि न जाय और बाहरी मोह ममतामें ही उपयोग फंसा रहे तो वह कौनसी जिन्दगी है ? पशुवोंमें, मनुष्योंमें और कौनसी विशेषता है ? आप कहेंगे यशकी विशेषता है। पशुवोंमें यश नामवरीकी बात तो नहीं है, मनुष्योंमें तो है। अरे ऐसी यश नामवरी पशुवोंमें भी चला करती है। ये पशु लोग जानते हैं, यह बड़ा है, यह समर्थ है, यह धनीको ज्यादा प्यारा है। इसका वे पशु भी अन्दाज रखते हैं। कोई बलवान जानवर हो, पुण्यवान जानवर हो तो दूसरे जानवर उसके आगे नीची गर्दन करके

http://sahjanandvarnishastra.org/

उसका सम्मान करते हैं। वहां पर भी ये सब चीजें चल रही हैं जो मनुष्योंमें चलती हैं। अन्य कौनसी विशेषता है मनुष्योंमें ? आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये सब मनुष्य भी करते हैं, पशु भी करते हैं। सारी बातें तो समान हैं। विशेषता किस बातकी है ?

पशुओंसे मनुष्यमें विशेषता—विशेषता यही है मनुष्यमें कि देहसे भिन्न अपने अन्तस्तत्त्वको पहिचाने और इस ही परिचयमें, इस ही के उपयोगमें अपनी दृष्टिको स्थिर रखे, इससे ही है मनुष्यकी विशेषता है। और यही काम न किया जाय तो फिर निर्णय कर लो, कैसी जिन्दगी है और यहाँ दो चार पुरुषोंने कुछ भला कह दिया, कुछ प्रशंसा कर दी तो कौनसा लाभ लूट लिया सो तो मनमें निर्णय बनावो ? संसारके क्लेश घट गए कि आत्मामें पवित्रता बढ़ गई, कि कुछ शान्ति मिल गई या भविष्य अपना निर्बाध बन गया, या इस ही भवमें ये हमारे हो गये, या ये शरण सहाय बन जायेंगे, कौन सा लाभ लूट लिया सो तो बतावो ? इन बातोंमें एक भी बात नहीं मिली, उल्टी ही उल्टी सारी बातें हुईं। जितनी दगा मित्र दे सकता है उतनी और कोई गैर व्यक्ति नहीं दे सकता।

बातोंकी मित्रता—मित्रता होती है बातोंसे। बातोंके सिवाय और मित्रताका क्या उपाय है ? भली बात कहे, रुचिकी बात कहे, मन लगनेकी बात कहे लो मित्र हो गए। मित्रतामें और क्या देर लगती है ? तो जितनी मित्रता बनेगी उस मित्रताके बीचमें जरा भी प्रतिकूल काम हो जायगा तो बस विमुख हो जायगा और विमुख हो तो विमुखताका और तांता बढ़ता जायगा। उस तांतेमें जो बिगाड़ गैर नहीं कर सकते वह बिगाड़ मित्र कर डालते हैं। इस लोकमें भी लाभ क्या लिया ? शान्ति कहां रही ? वह प्रशंसा करने वाला तो अपने विकल्पोंकी चक्की चलाकर चला गया। उसने तो उतनी बात ही कही और आपको उसको खुशी रखनेके लिए बड़ा श्रम करना पड़ेगा तो आप तो टोटेमें ही रहे ना। और परलोकका भी कौनसा सुधार है ? स्त्री है, संतान चाह रहे, धन जोड़ रहे, और और चाह रहे, यह सब नामके लिए चाहते हैं। ये व्यर्थमें क्यों विडम्बनाएँ की जा रही हैं।

जीवकी अभिन्नसम्प्रदानकारकता—देखो यह जीव जीवके भावोंका ही कर्ता है, अपनी शक्तिसे ही किया गया है और जो कुछ भी बात गुजरी, परिणमन हुआ उस परिणमन का प्रयोजन यह जीव स्वयं है। उत्पन्न हुए विभाव पर्यायरूप कर्मके द्वारा आश्रयमाण कौन है ? लो क्रोध हुआ। इस क्रोधका फल किसे मिलेगा ? मिलेगा क्या, मिल तो रहा ही है। जिस समय क्रोध कर रहे हैं उस ही समय तुरन्त क्रोधी फलको पाता जा रहा है, क्षोभ, बेसुधी संक्लेश तुरन्तके तुरन्त मिल रहे हैं। फल मिलनेमें एक सेकेन्डकी भी देर नहीं है। तो जो पर्यायें बनती हैं उन कर्मोंका फल पाता कौन है ? यह ही करने वाला। लोग कहते हैं जो करेगा सो भरेगा। ठीक है। इसमें और सुधार कर लो। जो करेगा वह उसी समय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भरेगा। आगे पीछे अन्तरकी बात नही है। तो उस विभाव कर्मके द्वारा आश्रयमाण यह जीवपदार्थ स्वयं है। अतएव यही सम्प्रदान है।

जीवमें अभिन्नापादानकारकता—जो पर्यायें हुईं दूसरी समय विलीन हो गयीं, यों अनन्त पर्यायें विलीन होती चली जाती हैं। उन पर्यायोंका विलय होनेपर भी ध्रुवताका आलम्बन जिसमें है, यही उपादेय हुआ। समुद्रमें नवीन नवीन लहरें उत्पन्न होती हैं, विलीन हो जाती हैं। उत्पन्न होने और विलीन होनेपर भी यह समुद्र वही का वही रहा। ये सब बातें जैसे वहाँ भिन्न दिखती हैं ऐसे ही सब कुछ इस जीव द्रव्यकी पर्यायें भी विलीन हो गयीं, पर रहा जीवद्रव्य वही। सब अभिन्नता दृष्टगत होती है। यही आत्मा अपादान है, यह सब लीला किसी आधारमें हुई है। रागद्वेष आदिक विभाव होना या जो भी विभाव हों, साधारण प्रकरणमें विभाव या स्वभाव व्यक्ति न देखो। कुछ भी हो, भावमें पर्यायोंका आधार कौन है? यही जीवद्रव्य।

जीवमें अभिन्नषट्कारकताके समर्थनमें समुद्रका दृष्टान्त—समुद्रमें लहरें उठीं। उठीं वायुके निमित्तसे। उपाधि वायु है, लेकिन बार-बार अब इसे रटना नहीं है, वायु उपाधि है, वायु उपाधि है। समझ लो। उसका विरोध न करके उसको एक जगह आसन दे दो। आप यहाँ बिराजिए। आपकी बात बिल्कुल ठीक है। वायुके निमित्तसे समुद्रकी तरंगें उठीं, ठीक है, बिराजिए, अब चलो वस्तुमें पाई जाने वाली कलायें देखिये। इस समुद्रमें लहरें उठीं, इन लहरोंको समुद्रने किया, क्योंकि उन लहरोंरूपसे प्रवर्तमान यह समुद्र है और समुद्र ही उस रूपमें पेश हुआ, प्रवर्तमान हुआ। अतएव समुद्र ही कर्म हो गया और यह सब समुद्र उस समुद्रकी स्वयं शक्ति है ना इससे हिल जाता है। नहीं तो हवाके चलनेपर यह लोहेका गाटर क्यों नहीं जरा भी हिल जाता? उसमें इस तरहकी योग्यता ही नहीं है। समुद्रकी ही वह शक्ति है। अपनी ही शक्तिसे अपने ही करणसे वह रूपक बन रहा है और ऐसा लहराता हुआ समुद्र लहलहा रहा है, उसमें वह परिणमन होना अवश्यंभावी है, जो होना है वह हो रहा है, उस सत्त्वका फल है और उन लहरोंकी स्थितिका आश्रीयमाण कौन है? उन लहरों ने आश्रय किसका लिया, वही सम्प्रदान है। आपके हाथमें कोई वस्तु है, और किसी दूसरे योग्य व्यक्तिको आप दे रहे हैं तो देनेके मायने क्या हैं? यह वस्तु अब इसका आश्रय करेगा। तो वस्तु जिसका आश्रय करे बस वही सम्प्रदान है। यों इससे जीवकी दृष्टिमें सम्प्रदान जीव ही हुआ। समुद्रकी दृष्टिसे समुद्र सम्प्रदान हैं और उसमें लहर निकली, फिर भी वह ज्योंका त्यों है, वही अपादान है, यही अधिकरण है। ऐसे ही जीवमें जीव भावका अभिन्न षट्कारक घटित होता है। यह जीव अपने ही परिणमनके किसी अन्य कारककी अपेक्षा नह

अभिन्न षट्कारकताके अवगमका प्रयोजन—इतनी सब बातें बतानेका निष्कर्ष यह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है कि यह निर्णय रख लीजिए कि कर्मका कर्ता जीव नहीं है। ज्ञानावरण आदिक द्रव्यकर्मका कर्ता वही है, जीव नहीं है। जीवके भावोंका कर्ता जीव है, कर्म नहीं है। जीव ही जीव भावोंसे स्वतंत्रया प्रवर्तमान हुआ है ऐसा समझकर हम अपनेको अन्य सर्व पदार्थोंसे न्यारा निरखें और इस निज अंतस्तत्त्वमें उपयोग लगाकर तृप्ति और सन्तोषका अनुभव करें। यह कर सके तो हमने कुछ शरण पा लिया और यही न कर पाये तो जैसे अनन्त काल व्यतीत किया जिस चक्रमें उस ही प्रकार उसी चक्रमें समझ लीजिए कि आगे भी रहेंगे। इससे बचना अपना कर्तव्य है और इससे बचनेके लिए अन्तर्ज्ञान ही नितान्त आवश्यक है।

कम्मं कम्मं कुव्वदि जादि सो अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुंजदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥६३॥

अभिन्नषट्कारकताके विरुद्ध एक आशंका—पञ्चास्तिकायकी ६२वीं गाथामें अभिन्न-षट्कारक पद्धतिसे यह बताया गया था कि यह अशुद्ध आत्मा अपने ही अशुद्ध षट्कारक रूपसे परिणमता हुआ परिणमनको करता है और इसी तरह शुद्ध आत्मतत्त्वका श्रद्धान ज्ञान और अनुष्ठान होनेसे अभिन्न षट्कारकरूपसे परिणमता हुआ अपने शुद्ध परिणमनको करता है और कर्म अपने ही अभिन्न षट्कारकरूपसे अपने आपकी स्थितियोंको किया करते हैं। ऐसी चर्चा सुननेके बाद शिष्यको एक शंका हुई है कि यदि कर्म कर्मको करता है और आत्मा आत्माको करता है तो यह आत्मा कर्मोंके फलको कैसे भोगेगा और ये कर्म भी आत्माको कैसे फल दे सकेंगे, फिर तो यह कोई झगड़ा ही न रहना चाहिए था, जो यह संसार बना है, इतना जग-जाल है, व्यर्थकी भ्रमणायें हैं, विकारोंका नाच है, ये सारी विडम्बनाएँ तो सामने रक्खी हैं। ये तो तब ही हो पायेंगी जब आत्मा कर्मको करे और कर्म उसे फल दे और आत्मा उसका फल पाये। ये सब बातें मानी जानेपर ही यह संसारकी व्यवस्था बन सकती है।

अभिन्नषट्कारकतापर शंकाका सारांश—यहाँ शंकाकारके कथनका सारांश इतना है कि कर्म और जीव यदि ये एक दूसरेके कर्ता नहीं हैं तो प्रथम तो यह बात है कि यह जीव फल कैसे पायगा ? कुछ करेगा ना अटपट दूसरेको, तभी तो फल मिल पायगा, और फिर यह कहा जाय कि अजी फल देने वाला दूसरा है। तो उसमें भी यह आपत्ति आती है कि जब किया ही कुछ नहीं तो दूसरा फल भोगने लगे। कुछ भी वस्तु व्यवस्था न बनेगी। सब अनवस्थितता हो जायगी। तब वास्तवमें मामला है क्या ? कैसे यह संसार बन गया। कैसे ये विडम्बनाएँ चल उठीं ? यदि एकान्तसे अर्थात् जीवके भावके निमित्तकी बात न कह कर अथवा निरपेक्ष होकर जीव भावके निमित्त बिना यदि यह कर्म कर्म है, यह द्रव्य कर्म कर्मरूप बनता है और यदि आत्मा आत्माको ही करता है द्रव्यकर्मको नहीं करता है तो जिसने कोई कर्म नहीं किया फिर कर्मका फल वह कैसे भोगेगा और जीवने जो कर्म नहीं किया वह कर्म

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवको फल कैसे देगा ? ऐसी आशंका होनेपर आचार्यदेव समाधान देंगे। वह समाधान चूंकि भूमिका पूर्वक कहनेके पश्चात् ही समझमें आ पायगा, इसलिये कुछ सिद्धान्त सूत्र कह रहे हैं—

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं वादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं ॥६४॥

कर्मफलव्यवस्थाके प्रसंगमें भूमिकारूप सिद्धान्तप्रदर्शन—यह समस्त लोक सर्व ओरसे पुद्गल स्कंधोंसे अत्यन्त भरपूर भरा हुआ है। ये पुद्गल काय नाना प्रकारके हैं—कोई सूक्ष्म, कोई वादर, अनेक अवगाहना अनेक शक्ल सूरतोंके अनन्त पुद्गल कायोंसे भरा हुआ यह लोक है। पुद्गल कायमें यहाँ मुख्यतया कार्माणकाय लेना। ५ शरीरोंमें कार्माण शरीर भी है और अन्य भी अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुके चार शरीर भी हैं। इन चार शरीरोंमें जितने हैं परमाणु उन चार शरीरोंसे भी कई गुणित उन कर्मयोग्य पुद्गलोंसे यह लोक भरा हुआ है। यह सिद्धान्त सूत्र बताया जा रहा है। इसमें से अर्थ यह निकाल लेना अपने प्रयोजनका कि इस जीवको कर्म कहींसे खोजकर लाना नहीं पड़ता।

जीवके प्रदेशोंमें विस्रसोपचित कर्मका भी उपचय—प्रथम तो इस जीवके साथ अनंतानन्त कार्माणपुद्गल स्कंध ऐसे घेरे पड़े हैं जो अभी कर्मरूप तो नहीं हैं, किन्तु जीव जहाँ जायगा वहाँ जायगा वहाँ वह भी सब जायगा, और मरनेपर भी कार्माणस्कंध जीवके साथ जायेंगे वे, अभी जो कर्मरूप नहीं हुए हैं, किन्तु कर्मरूप होनेकी योग्यता रखते हैं, इनका नाम है विस्रसोपचय। विस्रसा उपचय। विस्रसा मायने प्रकृत्या उपचय मायने ढेर रूपसे। ऐसे कार्माणद्रव्य जो कर्मरूप तो नहीं हैं, पर कर्मरूप बननेकी योग्यता रखते हैं। ऐसे एक-एक कार्माण द्रव्य जीवके साथ ऐसे लगे हुए हैं कि मरनेके बाद एक भव छोड़कर दूसरे भवमें जायेंगे। यों समझ लो कि बँधे हुए कर्मोंकी ही तरह ये भी लग बैठे हैं। फर्क इतना है कि बँधे हुए कर्म कर्मरूप हैं और वे कर्मरूप नहीं हैं।

विस्रसा उपचयकी एक मोटी झांकी—कभी देखा होगा किसी बागमें जंगलमें घूमते चले जायें तो कभी-कभी सिरके ऊपर सैंकड़ों छोटी-छोटी मक्खी भिनभिनाती हैं और वे इस रूपमें सिरके ऊपर आ जाती हैं कि आप जहाँ जायें वहाँ ये मक्खियां भी आ जाती हैं। आप दौड़ लगायें तो वे भी दौड़ लगाती हुई सिरपर चलेंगी। आप कहीं बैठ जायें तो वे भी वहीं भिनकती रहेंगी। वे मक्खियाँ आपमें आपके कुर्ताकी तरह नहीं चिपटी हुई हैं तो भी वे आपके साथ-साथ जा रही हैं। उन मक्खियोंमें आपने क्या कर दिया, पर उनकी प्रकृति है। ये अनंत विस्रसोपचय कार्माणद्रव्य जो अभी कर्मरूप नहीं हुए, फिर भी जीवके साथ लगे हुए हैं। जीव अशुद्ध विचार करे, संकल्प-विकल्पमें मस्त रहे तो कर्म कहींसे लाना नहीं पड़ता, हमारे साथ ही बँधे पड़े हैं। जहां परिणाम खोटा हुआ कि वे ही परिणाम कर्मरूप बन जाते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कार्माणद्रव्यप्रदर्शक सिद्धान्त सूत्रसे प्रयोजनीभूत वक्तव्य—इस सिद्धान्त सूत्रसे यह बात लेना है—कोई एक अलगसे नियत आत्मा हम लोगोंको दंड देने वाला हो तब तो फिर उस प्रभुसे अनन्त बार चूक होती रहती। अनन्तानन्त जीव हैं, जिनमें से अनन्त भी मोक्ष चले जायें तो भी अनन्तानन्त रहते हैं और अनन्तकालसे मोक्ष चले जा रहे हैं फिर भी अनन्तानन्त हैं। आजकी ही स्थिति देख लो, कितने जीव समझमें आते हैं। इन सबको दुःख देने वाली यदि कोई प्रकृति नहीं है। ओटोमेटिक सिस्टम न हो तो व्यवस्था नहीं बन सकती है। वह ओटोमेटिक सिद्धान्त यह है कि जीवने परिणाम किया, वह अपने आपके परिणामोंका निमित्त पाकर इसमें कार्माण व ेणा कर्मरूप हो गई और उनमें प्रकृति स्थिति प्रदेश अनुभाग भी बन गया।

कर्मत्वपरिणमनपर एक दृष्टान्त—आप भोजन करते हैं तो भोजन पेटसे बँध गया ना? यही तो भोजनका आस्रव है और बंध गया। तुरन्त तो नहीं निकल भगता। अब उस भोजनमें ऐसा विभाग हो जाना कि इतना अंश खून बनने योग्य है, इतना पसीना बनने योग्य है, इतना मल बन जायगा, इतना मूत्र बन जायगा, इतना भोजनका अंश हड्डी बन जायगा और इतना यह अन्य अन्य धातु बन जायगा, यह प्रकृति विभाग तुरन्त ही हो जाता है। हड्डी चाहे कितने ही दिनोंमें बने। वह परमाणु चाहे कितने ही दिनोंमें हड्डी रूप हो, लेकिन ऐसी प्रकृतिका विभाग तुरन्त हो जायगा और उनमें स्थितिका भी विभाग है। भोजनके जो परमाणु हड्डी रूप बन गये वे पचासों वर्षों तक ठहरेंगे। जो मूत्र रूप बन गये वे तीन चार घंटेमें ही निकल जायेंगे। तो उनमें सबकी स्थिति भी बँध गयी। कौन स्कंध कितने दिनों तक रहेगा? और उनमें अनुभाग भी बंध गये। जो हड्डी रूप बन गए उनमें ताकत ज्यादा है। जो पसीना, रुधिर, मल, मूत्र बन गए उनमें शक्ति भी निश्चित हो गयी। अब विपाक आयगा अवसरपर। यों ही उनमें प्रदेशका बंध तो है नहीं। इसे कौन करता है? पेटमें अन्न पहुंचने के बाद विभाग हो जाया करते हैं। यह ओटोमेटिक सिस्टम रहा कि नहीं? आप कोई पेटमें नौकर तो भेज नहीं देते कि जावो तुम्हें ऐसा ऐसा कार्य करना है।

कर्मफल—यों ही जब उन कर्मोंका उदयकाल आता है, विपाक काल आता है तो वहाँ भी कुछ प्रभाव होता है। डालीमें फल लगा है। वह फल पककर जब झड़ता है तो झड़ते समय डालीमें भी कुछ न कुछ प्रभाव आ ही जाता है, डाली हिल जाती है। यों ही ये चिरकालसे बँधे हुए कर्म जब निकलनेको होते हैं अर्थात् जब इनका उदय होता है तब इस जीवमें विभाव परिणामरूप प्रभाव पड़ता है। तत्वकी बात बड़ी सावधानीसे सुननेकी होती है। लो यों जीवने कर्म बाँधा और कर्मोंने फल दिया, इतने पर भी जीवने जीवमें ही स्वयं कुछ किया और जीवने जीवमें ही कुछ भोगा। कर्मने कर्ममें ही कुछ किया, कर्मने कर्ममें ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कुछ भोगा।

यथार्थज्ञानकी उदारता—अहा, कैसा स्वच्छ ज्ञानका प्रताप है ज्ञानी पुरुषका कि उसकी सब कुछ बातें जिसकी एक-एक किरण लेकर लोग लड़ा करते हैं, विवाद करते हैं, ज्ञानीके ज्ञानमें सब एक साथ समाया हुआ है। इस ज्ञानीके उपयोगमें ज्ञानियोंका और अज्ञानियोंका दोनोंका स्थान है। कितना उदार है यह ज्ञानी कि ज्ञानियोंकी बातका भी समर्थन करता है और एकान्त हठवादियोंका भी समर्थन करता है। भगवानको एक जगह प्रमाता कहा है स्वयंभूस्तोत्रमें। हे प्रभो! तुम प्रमाता हो। प्रमाताका सीधा अर्थ है प्रमाण करने वाले और प्रमाताका दूसरा अर्थ है उत्कृष्ट माता। हे प्रभो! तुम सबसे बड़ी माता हो। जैसे माता अपने बच्चेके हितरूप अनुशासन करती है, ऐसे ही हे नाथ! आपने इन समस्त अज्ञानी बच्चोंके हितके लिए हितरूप अनुशासन किया है।

तीर्थंकरका प्रमातृत्व—किसी कविने तो यह कल्पना की है कि जब कोई पूछे कि तीर्थंकरके शरीरमें सफेद खून क्यों होता है? अतिशयमें बताया गता है कि तीर्थंकरके शरीर में सफेद खून होता है, अपन लोगोंका लाल खून है। किन्तु शायद डाक्टर भी बतायेंगे कि अपन लोगोंके भी लाल और सफेद दोनों खून हैं। लाल और सफेद दोनोंका मिश्रण खूनमें मिलता है। सफेद खून जब कम होता है तो इसमें विकार आने लगता है, रोग बढ़ने लगता है। सफेद खून रोगहारी है। खैर, तीर्थंकरके सफेद खून क्यों होता है? तो कविकी कल्पना है कि मां को एक बालकपर तीव्र अनुराग है तो उस बच्चेके अनुरागके कारण जब सफेद दूध निकल आता है तो तीर्थंकरको जिनके कि जगतके सारे जीवोंसे अनुराग है, करुणा है उनके सारे शरीरका खून अगर सफेद हो जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है?

तत्त्ववेदीकी उदारचेतस्कता—तत्त्वज्ञानका अधिकारी प्रमाता जीव इतने विशाल उदार हृदय वाला है कि उसको किसी भी दार्शनिकपर रोष नहीं आता। उस दार्शनिकको योग्य दृष्टिसे उसकी बात समझाकर दूसरी भी बात हितके लिए आचार्यदेव बता देते हैं और इतनेपर भी कोई हठवादी दार्शनिक हठ ही करे, न माने, रोष करे, झगड़ा करे तो भी वह संत पुरुष तत्त्ववेदी मध्यस्थ हो जायगा, पर विसम्वाद न करेगा, क्योंकि वह जानता है कि किसीके साथ विसम्वाद करनेसे हमारा ही नुक्सान है, हमारे ही विकल्पोंकी सृष्टि बनेगी। हम ही उसका फल भोगेंगे। ज्ञानी तो बहुत पटु जीव है जिसकी पटुताके कारण न दूसरेका विनाश हो, न स्वयंका विनाश हो।

आशङ्का और सिद्धान्तस्थापन—प्रकरण यह चल रहा है, इस शंकाका समाधान चल रहा है कि आत्मा आत्माका ही कर्ता हो, कर्म कर्मका ही कर्ता हो तो आत्मा कर्मका फल कैसे भोगेगा, क्योंकि आत्माने तो कर्मोंको किया ही नहीं और यदि बिना किए हुए फल मिलने लगे

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो सब अव्यवस्था हो जायगी और इसी तरह कर्म आत्माको फल कैसे दें, उसने तो कर्म किया ही नहीं। जिसने नहीं किया उसे कर्मफल देने लगें तो बड़ी अटपट व्यवस्था बनेगी। सब अव्यवस्था हो जायगी। ऐसी अव्यवस्था हो जाय कि कहो पापीको पापका फल न मिले और उस पापका फल सिद्धपर थौप दिया जाय। इस शंकाके उत्तरमें समाधान आगे आयगा। उससे पहिले इस गाथामें यह सिद्धान्तसूत्र रक्खा है—जैसे काजलकी डिबिया जिसे रोज-रोज इस्तेमालमें लाया जाता है वह काजलसे भरपूर होती है, ऐसे ही यह लोक सूक्ष्म और वादर अनन्तानन्त पुद्गलोंसे खचाखच भरा हुआ है और उसमें ये कर्म योग्य पुद्गल भी खचाखच भरे हैं।

प्रत्येक संसारी जीवके प्रदेशोंमें कार्माण द्रव्यका बृहत् उपचय—देखो एक जीवके साथ अनन्त तो कर्म वर्गणायें कर्मरूप बँधी हैं और उस ही जीवके साथ अनन्त कार्माण वर्गणायें ऐसी भी पड़ी हैं जो कर्मरूप नहीं हैं, पर उसके साथ चिपकी हैं और वह एक जीव चाहे तिलके दाने के असंख्यातवें भागकी अवगाहनाका हो उस जीवमें भी अनन्तानन्त कर्मवर्गणायें पड़ी हैं और जिस जगह वह छोटा जीव है उस जगह ऐसे अनन्त जीव भी पड़े हुए हैं और उनमें भी एक एकके साथ अनन्त कार्माणवर्गणायें भरी हैं। फिर ३४३ घनराजू प्रमाण लोक में अंदाज तो करो। कोई शुमार है। इन कार्माणवर्गणावोंको कहींसे लाया नहीं जाता। ज्यों ही जीवमें खोटा परिणाम हुआ ये कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। जहाँ आत्मा है वहाँ ही ये कार्माण वर्गणाके योग्य पुद्गल जो अनन्तानन्त हैं बिना लाये हुए हैं। बस बात इतनी होती है जिस समयमें जीवके विभावपरिणाम होते हैं तो वे कर्मरूपसे उपस्थित हो जाते हैं इस ही का नाम आस्रव है।

कर्मसिद्धान्तसे ग्राह्यदृष्टि—इस सिद्धान्तमें भी यह दृष्टि अपनायें कि यद्यपि ये कार्माणवर्गणायें व आत्मा एक क्षेत्रमें दूध और पानीकी तरह ठहरे हुए हैं तो भी ये भिन्न हैं। आत्मा एक स्वतंत्र तत्त्व है और ये सब कार्माणवर्गणायें अचेतन हैं, हेय हैं। इनसे आत्माका कुछ हित नहीं है। इन सब कर्मोंसे भिन्न शुद्ध ज्ञानमात्र ही जिसका एक स्वभाव है ऐसा यह परमात्मतत्त्व ही हमें ग्रहण करने योग्य है। धर्मपालन करना है तो उस ढंगकी पद्धति अपनानी होगी अन्यथा कष्ट भी भोगा और धर्म भी न मिला। हम इतने समागमोंके बीच पड़े हैं, ये भिन्न विभाव, ये शरीर, ये कार्माण वर्गणायें, ये रागादिक भाव, अनेक परतत्त्वोंके बीच पड़े हैं फिर भी मैं इन परतत्त्वोंरूप नहीं हूँ। मैं तो केवल उस सहजस्वभावरूप हूँ जिसकी अनुकम्पासे इनकी भी कदर हो रही है। एक मूलभूत सहजस्वभावको निकाल दीजिये फिर तो सारा मामला बिखर जायगा। मैं केवल सहज ज्ञानानन्द स्वभावमात्र परमात्मतत्त्व हूं। मेरा शरण, मेरा सार, मेरा सर्वस्व मेरा यह सहज स्वरूप है, अन्य कुछ नहीं है, ऐसी दृढ़ता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पूर्वक श्रद्धान हो तब उसमें धर्मपालन बनेगा। सत्संग ज्ञानार्जन द्वारा इस प्रतीतिको मजबूत बनायें, यही हम लोगोंका एक प्रधान कर्तव्य है।

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥६५॥

कार्माण द्रव्यका प्रयोग—पूर्व गाथामें यह बताया गया था कि कर्म होनेके योग्य पुद्गल इस समस्त लोकमें इस तरह व्यापी है जैसे अञ्जनचूर्णसे भरी हुई डिब्बीमें कालिमा पूर्ण रूपसे व्याप्त है और वह सर्वत्र पड़ी हुई है। यह प्रथम सिद्धान्त सूत्र इसलिए कहा गया है कि उस सिद्धान्तको बतानेके बाद अब यह सुगमतया दर्शाया जा सकता है कि इन भरे हुए कर्मयोग्य पुद्गलोंका होता क्या है? जहाँ ये कर्म पुद्गल पड़े हैं वहाँ ही सर्व जीव हैं और जहाँ यह संसारी जीव है वहाँ उनसे सम्बंधित विस्रसोपचयरूपमें कर्मरूप पुद्गल पड़े हुए हैं तथा अन्य भी पुद्गल हैं। यह जीव केवल अपने भावोंका कर्ता है। उन भावोंका निमित्त पाकर वहां पर अवस्थित कर्म योग्य पुद्गल अपने ही स्वभावसे वे कर्म अपनी ही प्रकृतिसे कर्मभावको प्राप्त होते हैं और वे जीवमें अन्योन्यावगाह रूपसे निश्चित हो जाते हैं।

कर्मोंको खींचकर लाकर बांधनेकी आवश्यकताका अभाव—कहीं कोई यह कहे कि यह जीव अपने परिणामोंसे कर्मोंको खींचता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि अपनेसे बाहर पड़े कर्मोंको खींचता है, किन्तु अपने ही प्रदेशमें विस्रसोपचयके रूपमें अवस्थित इस कर्म योग्य पुद्गलको कर्मरूप बना लेता है, यह व्यवहारदृष्टिका कथन है, यह उसका भाव है। कदाचित् कोई बाहरके भी कर्मयोग्य पुद्गल अपनी परिणतिसे जैसे स्थानान्तरित होते रहते हैं, ऐसे ही यह आत्मप्रदेशोंमें आ जाय तो वह भी कर्मरूप हो सकता है, किन्तु यह जीव बाहरसे कर्मोंको लाकर फिर कर्मरूप बनाता हो, ऐसी बात नहीं है।

संसारी जीवकी अनादिबन्धनबद्धता—यह आत्मा संसार अवस्थामें अनादिकालसे बन्धनमें बद्ध है। कोई यह शंका करे कि यह जीव तो बड़े शुद्ध स्वरूप वाला है। इसने ऐसा क्या अपराध किया कि इसमें कर्म बँध गये? तो उसका समाधान इतना है कि यह अपराध की शुरुआत किसी क्षणसे नहीं है, किन्तु जबसे जीव है तबसे ही यह अपराध बना हुआ है। जीव है अनादिसे। प्रत्येक सत् अनादिसे है। केवल जीवकी ही क्या बात है? सभी पदार्थ अनादिसे हैं। जबसे यह जीव है तबसे ही अपराधमय है। पहिले यह निरपराध हो, पीछे अपराध आया हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यदि यह निरपराध था, धर्म आदिक द्रव्योंकी तरह विशुद्ध था तो अपराध आनेका कोई कारण ही नहीं है। क्या ऐसा नहीं होता कि कोई शुरूसे ही ऐसा हो? और पश्चात् उपायोंसे उस दोषको दूर कर दिया जाता हो।

अनादिबद्धतापर एक दृष्टान्त—तिलके दानेमें तेल कबसे आया? किसका दाना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निकल चुका, फिर उसमें तेल भरा जाता हो, क्या ऐसा है ? अरे तिलका दाना जबसे बनना शुरू हुआ तबसे ही उसमें किसी न किसी रूपसे तेल भी शुरू है। दाना भी कमजोर है, तेल भी कमजोर है। जब वह दाना पुष्ट होता है तब वह तेल भी पुष्ट होता है। तिलमें तेल कबसे है ? जबसे तिल है, और उस तिलसे तेल जब निकाला गया तो तेल अलग हो गया, तिल अलग हो गया। ऐसे ही इस जीवमें रागादिक विभाव परम्परा और यह द्रव्यकर्मकी परम्परा कबसे है ? जबसे यह जीव है तबसे है, फिर भी उसे ज्ञान और वैराग्यके बलसे बाह्यपदार्थोंसे हटकर केवल निज अन्तस्तत्त्वमें उपयोग जमाये और इस उपयोगकी स्थिरता रखे तो कर्म और रागादिक विभाव दूर किये जा सकते हैं।

जीवकी अनादिबद्धताका अन्तःकारण—यह जीव अनादिसे बन्धनमें बद्ध है। इसका कारण यह है कि यह अपने अस्तित्वका, चैतन्यस्वभावका त्यागी हो रहा है उपयोग द्वारा। जीव अपने स्वभावको कभी त्याग नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थका स्वभाव पदार्थमें शाश्वत होता है। लिये रहो। जब ज्ञानमें नहीं है कि मेरा स्वरूप तो चैतन्यमात्र है तब तो इसका त्याग हुआ ही समझलो। अपने पारिणामिक शुद्ध चैतन्यस्वभावको तजता हुआ यह जीव अनादि कालके बन्धनसे बद्ध चला आ रहा है और इस बद्धताके कारण अनादिसे ही मोह रागद्वेषके स्नेहसे परिणमता चला आ रहा है। जैसे कहते हैं—चिकने घड़ेपर पानी नहीं ठहरता ऐसे ही जो जीव रागद्वेष मोह विभावकी चिकनाईसे चिकने हैं वहाँ ज्ञान वैराग्यरूपी जल नहीं ठहरता है। यह जीव ऐसे ही मलिन भावोंसे परिणमता चला आ रहा है। वह जब और जिस समय मोह रूप, राग रूप अथवा द्वेषरूप अपने परिणामोंको रचता है तब उस समयमें परिणामोंको निमित्त मात्र करके जीव प्रदेशोंमें परस्पर अवगाहरूपका प्रवेश करके अपनी ही प्रकृतिसे यह पुद्गल कर्मरूपताको प्राप्त हो जाता है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध और समग्र वस्तुवोंके परिणमनकी स्वतंत्रता—इन दोनोंका यथार्थ परिज्ञान जो करे वही तत्त्व का मर्मज्ञ है। किसी एक पक्षके एकान्तको ही माने और दूसरी दृष्टिके विषयका निषेध करे तो वहाँ मर्म नहीं पाया जा सकता।

निश्चय एकान्तमें अनिष्टापत्ति—एक निश्चयदृष्टिसे निरखनेपर यह विदित होता है कि यह जीव अपनी ही परिणमन शक्तिसे अपने लिए अपनेमें अपने रागादिक परिणमनसे स्वयं परिणमता हुआ, स्वतंत्र होता हुआ यह रागादिक परिणमनका कर्ता है। जान तो लिया यह, किन्तु इसकी ही हठ हो और यह बात विदित नहीं हो कि ये रागादिक परिणाम परउपाधिका निमित्त पाकर हुए हैं। जब तक यह भी श्रद्धा न हो तब तक उन रागादिक परिणामोंको छोड़नेका उत्साह कैसे जगेगा ? जब यह दृष्टिमें रहता है कि ये रागादिक विभाव परउपाधिका निमित्त पाकर आये हैं, मेरे घरकी निजी गांठकी वस्तु नहीं हैं और यह दुःखकारी है तो यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उनसे उपेक्षा करके अपने स्वरूपमें लगनेके उपायसे उन सब विभावोंको दूर हटा देता है। कदाचित् कोई यह भी समझता रहे कि ये रागादिक भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं, स्वभावके विपरीत परिणमन हैं, इस कारण ये विभाव तजने योग्य हैं, ऐसा कोई मानता रहे, किन्तु निमित्त उपाधिको न माने तो पहिले तो यही निर्णय करना कठिन है कि रागादिक विभाव क्यों हैं ? चैतन्यस्वभाव है और रागादिक विभाव हैं यह कैसे कहा जाय, जब कि उपाधिका कुछ सम्बंध ही न माना और परनिमित्त ही कुछ नहीं माना गया तो जीवमें जो कुछ हो वही स्वभाव है। विभाव कैसे हुए ? पहिले तो व्यवहारदृष्टिके विषयका खण्डन करनेपर विभावका विभावपना ही निर्णय नहीं किया जा सकता और कदाचित् निर्णय कर लिया जाय जबरदस्ती कि चलो ये रागादिक विभाव हैं तो भी चित्तमें यह उत्साह कैसे जग सकेगा कि ये विभाव हैं, इनसे दूर हटो। क्योंकि अब ये विभाव परउपाधिके सम्बंध बिना ही आत्मामें अपनी शक्तिसे हुए हैं। तो जब होना होगा, होते रहेंगे। जब न होना होगा, न होंगे, और न होकर भी फिर जब होना होगा, हो जायगा। कोई व्यवस्था नहीं बन सकती है। इस कारण केवल निश्चयदृष्टिका एकान्त कर लेनेपर व्यवहारकी बातका निषेध करनेपर भी तो मर्म नहीं पाया जा सकता।

व्यवहारैकान्तमें अनिष्टापत्ति—इस ही प्रकार कोई व्यवहारदृष्टिका एकान्त कर ले, निश्चयदृष्टिकी बातको मना करे अर्थात् अपना सिद्धान्त यों स्थापित करे कि जीवमें राग द्वेषादिकको कर्म उत्पन्न करते हैं, जीव उत्पन्न नहीं करता, जीवका वहाँ क्या वश है ? जब कर्म उदयमें आते हैं तो ये कर्म जीवको जबरदस्ती झकझोर डालते हैं। जीव वहां कुछ नहीं करता। यों व्यवहारदृष्टिका एकांत करे और इस निश्चयदृष्टिके मर्मको अलग कर दे कि यह जीव अपनी विभावशक्तिसे ऐसा विभावरूप परिणमता है और वह परिणमन इसमें इसके लिए इसके द्वारा हुआ करता है, इस प्रकारके निश्चयदृष्टिकी झांकी भी न रखे, माने ही नहीं, व्यवहारदृष्टिका एकांत करे तो इसमें भी क्या मर्म पाया ? शांतिका उपाय कैसे प्राप्त कर सकेगा ? ये कर्म जब तक जीवको रागी बनायेंगे तब तक जीव रागी रहेगा। ये कर्म जब तक जीवको द्वेषी बनायेंगे तब तक जीव द्वेषी बनता रहेगा। कहाँ उत्साह जग सकेगा इस व्यवहारदृष्टिके एकान्तमें ? हाँ इन कर्मोंकी पूजा करें, विनय करें और इनसे रोज प्रार्थना करें, इन कर्मोंकी स्तुति करें तो कर्मोंको कुछ रहम आ जाय तो ये रागद्वेषके शस्त्र, प्रहार कम कर लेंगे। व्यवहारदृष्टिके एकांत में भी आपको शान्तिका मार्ग मिल न पायगा, इस कारण व्यवहारदृष्टिके एकान्तसे भी मर्मका बोध नहीं होता।

विशुद्ध ज्ञानकी उदारता—वह विशाल उदार ज्ञान धन्य है जिसके ज्ञानमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बंधकी भी बात विदित है और वस्तुस्वतंत्रताकी भी बात विदित है, और सर्व कुछ एक साथ विदित है। वह विशुद्ध ज्ञान कितना उदार ज्ञान है, जीवमें ये रागादिक विभाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त मात्र पाकर जीवमें जीवकी शक्तिसे जीवके लिए जीवरूप भाव को बनाता रहता है। निमित्तनैमित्तिक सम्बंध और स्वतंत्रताका ज्ञान—ये दोनों ज्ञानमें एक साथ बने रहते हैं। हाँ प्रतिपादन नम्बरवार हो पाता है।

वस्तुस्वातंत्र्यकी झांकी—रसोईघरमें खिचड़ी बनानेके लिए चूल्हेपर पानीकी बटलोही धर दी, पानी तेज गर्म हो गया, अधन हो गया। आदहन—चारों ओरसे जिसमें दहन आ जाय उसे कहते हैं अधन। पानी गर्म हो गया, यह पानी आगका सन्निधान पाकर आगका निमित्तमात्र करके अपनी शक्तिसे अपने आपको गर्म कर बैठा। जहाँ उस पानीके परिणमनको निरखते हैं वहाँ तो यही बात मिलेगी कि यह पानी अपनी शक्तिसे अपने आपमें अपने आपको गर्मरूप कर लेता है, किन्तु ऐसा अपने आपको गर्म बना लेनेका काम परउपाधिके बिना नहीं कर पा रहा तो अग्निको परउपाधिका मानना आवश्यक हुआ। है उपाधि तिसपर भी यह अग्नि अपनी गर्मी, अपनी पर्याय, अपना गुण अपनेको बाहर निकाल-निकालकर पानीमें फेंकता हो और फिर पानी गर्म हो रहा हो, ऐसी बात नहीं है।

अग्निका जलादिमें गमनका अभाव—खाली चूल्हेमें जितनी लकड़ी आधा घंटा तक जलती हैं ठीक उतनी ही नाप तौलकी लकड़ी पानीकी बटलोहीकी चूल्हेमें रखें तब भी जलती हैं। वह आधा घंटेमें जल सकने वाली लकड़ी पानीकी बटलोही रखनेपर कहो १० ही मिमट में जल जाय और बटलोही न रखे तो आध घंटे तक जलेगी, ऐसा अन्तर देखा है क्या? यदि यह अग्नि अपनी गर्मी निकालकर इस पानीमें डालकर पानीको गर्म करती होती तो उसका अर्थ यह था कि बजाय आधा घंटेके वह १० मिनटमें ही जलकर खाक हो जाती, पर टाइम उतना ही रहता है अग्निका जितना कि बटलोही धरी है तब, नहीं धरी है तब। और शायद यह भी सम्भव है कि बटलोही धरकर भी ५-७ मिनट और देर तक वह लकड़ी जले। तो जहाँ यह भी निरखा जा रहा है कि अग्निका निमित्त उपाधि पाकर पानी गर्म हो रहा है वहाँ यह भी निरखा जा रहा है कि अग्निका सब कुछ अग्निमें ही रहता है, अग्निसे बाहर अग्नि की गर्मी निकलकर नहीं भगती। और वहाँ केवल अग्निको निमित्तमात्र करके यह पानी अपनी शक्तिसे अपनेमें अपनेको गर्मरूप बना लेता है।

अग्निके प्रसंगमें निमित्तनैमित्तिक प्रसार—यहाँ आप एक शंका उठा सकते हैं कि अग्नि यदि यहाँसे ५-७ हाथ दूरपर है, उसकी गर्मी ५-७ हाथ दूर तक लगती है तो ५-७ हाथ दूर तक तो अग्निने अपनी गर्मी फेंकी या नहीं। जब होली जैसी आग रहती है तो लग-भग २० हाथ तक गर्मी फेंकती है। तो क्या अग्निने अपनी गर्मी फेंकी नहीं? उत्तर यह है कि अग्नि अपनी गर्मी फेंकती नहीं है। कितनी भी अग्नि जल रही हो, अग्नि जितनेमें है उतनेसे बाहर उसकी गर्मी नहीं फिकती है। होता क्या है कि जैसे अग्निका सन्निधान पाकर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बटलोहीका पानी गर्म हो गया, ऐसे ही अग्निका सन्निधान पाकर उस अग्निके पासके जो और स्कंध हैं उन्हें आप सूक्ष्म कह लो, क्योंकि आँखोंसे दिखते नहीं हैं अथवा बड़े बड़े नहीं दिखते, पर हैं स्थूल वे सब। तो अग्निका सन्निधान पाकर अग्निके निकटके स्कंध गर्म हो गए। वे स्कंध अपने आपके उपादानसे गर्म हुए हैं और उनका निमित्त पाकर निकटके स्कंध गर्म हो गए, यों गर्म होते-होते ये १०-२० हाथ दूर तकके भी स्कंध गर्म हो जाते हैं।

शब्दपरिणमनमें स्वातन्त्र्यकी झांकी—जैसे ये आवाजके तरंग, ये शब्द वहीके वही आपके कानमें नहीं आ रहे जो हम मुखसे बोल रहे हैं, क्योंकि जो हम शब्द बोल रहे हैं वे शब्द यदि किसी एक महाशयके कानोंमें पहुंच जायें तो बाकी पचासों महाशय तो बिना सुने ही बैठे रहेंगे। आपके शब्द केवल एक व्यक्तिके कानमें चले गए, बाकी लोग क्या करें? अरे ये शब्द सिर्फ एक ही दिशाको जाते, आपके आगे पीछे सभी तरफ बैठे हुए लोग ये निकले हुए शब्द कैसे सुन लेते हैं? ये निकले हुए शब्द सिर्फ किसी एक व्यक्तिके पास नहीं पहुंचते। इस लोकमें सर्वत्र भाषावर्गणायें भरी हैं और जब शब्द बोले जाते हैं तो उन शब्दोंका निमित्त पाकर पासकी भाषावर्गणायें भी उसरूप परिणम जाती हैं। ये भाषावर्गणायें हम आप सभीके चारों ओर भरी पड़ी हैं। जो भी शब्द बोले गए हैं वे उनका सन्निधान पाकर ये भाषावर्गणायें उन शब्दोंरूप परिणम जाते हैं और सब लोग उनको सुन लेते हैं। यहांपर भी निमित्तनैमित्तिक सम्बंध और वस्तुकी स्वतंत्रता—इन दोनोंका परिज्ञान एक साथ कर लिया जाता है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बंध और स्वतंत्रकर्तृत्वका अविरोध—एक ही घटना क्या, सारी घटनाएँ ऐसी ही हो रही हैं। जो घटनाएँ स्वभावके विरुद्ध हैं उन सब घटनावोंकी यही पद्धति है। चाहे वे पुद्गलकी घटनाएँ हों, चाहे जीवकी घटनाएँ हों, पर उपाधिको निमित्तमात्र करके प्रत्येक पदार्थ अपनी ही उपादान शक्तिसे स्वयं स्वतंत्र होता हुआ उन घटनावोंरूप परिणम लेता है। यहाँ इस ही सिद्धान्तको प्रसंगमें घटाते हुए बता रहे हैं कि यह जीव तो अपने भावों का कर्ता है और उस सम्बंधमें आत्मा शरीरके ही अवगाह क्षेत्रमें अवस्थित कार्माणवर्गणाके योग्य पुद्गल स्कंध अपने ही उपादान कारणसे कर्म पर्यायरूप परिणमन लेता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध और कर्मका कर्ममें स्वतंत्र कर्तृत्व जीवमें जीवका स्वतंत्र कर्तृत्व—ये सब निर्विरोध सिद्ध हो जाते हैं, यह बात शंकाके उत्तरमें कही जा रही है। जब यह शंका उठायी गयी थी कि जब कर्म कर्मका कर्ता है, आत्मा आत्माका कर्ता है तो कर्मका फल आत्मा कैसे भोग सकता है और ये कर्म आत्माको फल कैसे दे सकते हैं। इस सम्बंधमें सिद्धान्तसूत्र कहा जा रहा है। अब इसके आगेकी बात अगली गाथामें कही जायगी।

जह पोग्गलदव्वाणं बहुप्पयारेहिं खंधणिव्वत्ती।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ॥६६॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर्मोंकी आठ मूल प्रकृतियां—जीवके साथ बन्धनको प्राप्त हुए कर्ममें कितनी विचित्रता होती है, जिसका वर्णन किया जाना अशक्य है, फिर भी थोड़ा दिग्दर्शन करनेके लिए कुछ बताया गया है। ये कर्म ८ प्रकारकी प्रकृति वाले हैं, कोई ज्ञानका आवरण करने वाले हैं, कोई दर्शनका आवरण करते हैं, कोई सुख दुःखके कारण हैं। कोई श्रद्धा और चारित्रको बिगाड़ने वाले हैं, कोई शरीरमें रोकते हैं, कोई शरीरकी रचनाके कारण हैं, कोई ऊँच नीचके व्यवहारके हेतुभूत हैं, और कोई अभीष्ट विषयमें विघ्न डालने वाले हैं।

कर्मप्रकृतियोंकी विविधता—ये प्रकृतियाँ ८ कही हैं, किन्तु ८ ही न जानना। जैसे ज्ञानावरणमें ५ प्रकारके ज्ञानको ढाकनेकी प्रकृतियाँ हैं, वहाँ भी केवल ५ न जानो, मतिज्ञानके ३३६ भेद हैं। इन ३३६ प्रकारसे होने वाले ज्ञानोंपर ये आवरण करते हैं। यों ३३६ प्रकृतियाँ हुईं और मतिज्ञानकी ३३६ ही प्रकृतियाँ न जानो, किन्तु जितने पदार्थोंका ज्ञान किया जा सकता है और न हो तो उतने मतिज्ञानावरण हैं। घटज्ञानावरण, पटज्ञानावरण, स्वानुभूत्यावरण आदि अनेक प्रकारके होते हैं। जितने मतिज्ञान हो सकते हैं उतने ज्ञानावरण नाम लेते जावो। तब समझ लीजिए श्रुतज्ञानावरण कितने हैं ? अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण कितने हैं ? कितनी विचित्रता है ? ऐसे ही ऐसे सभी कर्मोंमें जानना। यह तो हुई प्रकृतिकी बात।

कर्मस्थिति व अनुभागोंकी विविधता—स्थितिकी विचित्रता देखो—कौन कर्म अधिकसे अधिक कितने काल तक बन्धनमें रह सकता है ? जघन्यमें कितना और मध्यममें कितना ? स्थितियोंकी विचित्रता देखो, अनुभागोंकी विचित्रता देखो। कमसे कम कोई एक अनुभाग रहता है, फलदानकी शक्ति, जिसका कुछ व्यक्त असर भी नहीं हो पाया और है शक्ति अनुभाग और अधिकसे अधिक इतना अनुभाग है कि यह जीव जड़ सरीखा अचेतन हो जाय और अनुभागकी डिग्रियाँ कितनी हैं ? इसमें इसीसे अन्दाज कर लो, जैसे कोई ज्ञानी जीव किसी कर्म प्रकृतिकी स्थितिका खंडन कर रहा है। मानो किसी कर्मकी १० करोड़ वर्षकी स्थिति काटना है तो उसमें जो उद्यम होगा तो ऐसा अन्दाज लगा लो कि मानो १ दिनमें करोड़ समय होते हैं। होते तो असंख्यात हैं पर मान लो। अब करोड़ समयकी स्थितिको तोड़ना है तो उस तोड़ते हुएके प्रसंगमें यह पद्धति बतती है कि मानो १० लाख अनुभागकी डिग्रियाँ खतम हों तब एक समयकी स्थिति खतम होनेका मौका मिलता है। यह बात ऐसी अंदाज करानेके लिए कही जा रही है कि स्थितियोंमें जितना मालूम होता है उनसे अनन्तगुणाफल देने की डिग्रियाँ होती हैं। अनुभागकी विचित्रता देखो।

निषेकोंकी विविध पिण्डरूपता—निषेकोंकी विचित्रता देखो—कर्म बंधते हैं—मानो एक समयमें ६३०० परमाणु बंधे कर्मोंके। माननेकी बात है, बंधते तो अनंत है। उन ६३००

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परमाणुवोंकी स्थिति मान लो ६४ समय हुए तो १६ समय तक तो वे कर्म उदयमें आ नहीं सकते। यह आबाधाकाल है। अब उन ४८ समयोंमें पहिले समयमें आने वाले प्रथम निषेक के परमाणु मान लो ५१२ आये तो दूसरे समयकी स्थितिके निषेक आयेंगे ४८०, तीसरे समयमें उससे भी ३२ कम, इस तरह ८ समयोंमें ३२ कम लेते जाइए। जब ८ वां समय आयगा तो १६, १६ कम चलेंगे। ऐसे ८ × ६ = ४८ में ८ गुणहानि हानि हुई और नाना गुणहानि हुई। तो अन्तमें कितना समय मिला उदयमें आनेके लिए? अन्तिम ८ समय के परमाणुवोंका जोड़ है १०० और एक एक कम हो गये तो अन्तमें कितने हो गये? बिल्कुल थोड़े परमाणु आये, लेकिन जो अधिक परमाणु उदयमें आये उनमें फल देनेकी शक्ति कम है और जो निषेक कम परमाणुवोंका बना, उसमें उन ५१२ वालोंसे कई गुणी अनुभाग शक्ति है। आज विज्ञान सिद्धान्त भी यही कहता है कि जितना छोटा एटम बनेगा उतनी शक्ति बढ़ेगी। कैसी कैसी विचित्रताएं हैं और शरीर-रचनाको देखकर लोगोंकी आदत चाल-चलन व्यवहार इच्छा निरखकर यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है कि कर्म भी कितने विचित्र हुआ करते हैं? इतनी विचित्रता कर्मोंमें किसने उत्पन्न की है? इस आशंकाका उत्तर इस गाथामें किया गया है।

अकृत रचना—जिस प्रकार बहुतसे पुद्गलद्रव्योंका बहुत प्रकारसे जो उनकी रचना हो रही है वह किसी भी परके द्वारा नहीं की हुई देखी गई है, इसी प्रकार कर्मोंकी भी बात जानना। करना किसका नाम है? जीवने भाव किया। उन विभावोंका निमित्त पाकर कार्माण वर्गणा यदि कर्मरूप बन गईं तो इसमें करना क्या हुआ? जीवने उनमें क्या किया? वे हो गईं निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप। यह बात यहाँ भी घटा लो। कुम्हारने घड़ा बनाया, कुम्हार जीव कितना है भीतर निरखो। उस जीवने इच्छा की, और अपने प्रदेशोंमें इच्छाके अनुकूल योग हलन-चलन किया, इतने तक ही तो वह करने वाला हुआ, इसके आगे कुछ नहीं किया। अब ऐसा यहाँ हो बैठा तो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि शरीर भी हिल उठा और उस अनुकूल फिर उस प्रसंगमें फंसी हुई मिट्टी भी घड़ेरूप परिणम गई। कुम्हारने वहाँ क्या किया? जीवकी भीतरकी रचना निरखकर सोचियेगा सब। कोई लोग विवाह-बारातमें फटाका छुड़वाते हैं। उस फटाकामें ऊपरी हिस्सेमें फटाका घालने वालेने आग धर दी, इतना भर ही उसने किया, वस्तुतः उसने इतना भी नहीं किया, पर व्यवहारसे मान लो कि उसने आग धर दी, इसके बाद फिर उस फटाकेका जो कुछ भी हुआ वह फटाका घालने वाले पुरुषने नहीं किया, वह फटाका अपने आप ही घल गया। वह घालने वाला पुरुष उस फटाकेसे चिपककर फोड़ता हो, ऐसा नहीं है।

अन्यके द्वारा परमें अकर्तृत्व—भैया! सभी बातोंमें घटा लो, आप हम किन्हीं भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बाहरी पदार्थोंमें कुछ नहीं करते, पर मान रखा है सब कुछ कि यह मैंने किया, इसने किया। इस ही विकल्पका तो सारा विवाद है परस्परका। घरमें, समाजमें, देशमें, दुनियामें मैंने किया, इसने किया, इसी बातका सारा विवाद है, और किया कुछ नहीं है। बात कुछ नही है और झगड़ा इतना बढ़ गया है। अच्छा यहीं देख लो अपनी सृष्टिमें, इस जीवको बड़े विचित्र विचित्र शरीर मिलते रहते हैं। मगरमच्छ, केचुवा, हाथी, घोड़ा, कीट, पतिंगे, न जाने किस-किस तरह के विचित्र शरीर इस जीवके हैं ? इन विचित्र शरीरोंको किसने बनाया, जीवने क्या किया, जरा भीतरी दृष्टिसे इसपर विचार तो कीजिए। जीवने कुछ नहीं किया। उसने तो केवल मिथ्याभाव किया, परको यह मैं हूं, इतना माननेका भाव किया।

भावात्मक अपराध—क्यों जी, परधनके प्रति यह मेरा है ऐसा मनमें कोई माने और आपकी चीज न छीने, आपको न छेड़े तो आप उसे बड़ा अपराधी तो नहीं मानते। विकल्प कर रहा है, सोच रहा है सोचने दो। आपकी चीज छीने झपटे तो आप उसे डांटेंगे। लेकिन यहाँ तो देखो—केवल भाव ही किया और कुछ किया नहीं, न कर सके, लेकिन दण्ड इतना मिला है कि ऐसे विचित्र शरीरोंमें फंसना पड़ा है, और इतना ही नहीं, शरीरोंको छोड़-छोड़-कर विचित्र नये-नये शरीरोंको धारण करता रहेगा. यह कितना बड़ा झगड़ा है ? लोग तो हवेली बन गई, बढ़िया आँगन बन गया, बैठक बन गयी, तो बड़ा सन्तोष मानते हैं, अब हमने सब कुछ कर लिया, अब हम निरापद हो गये। अरे यह शरीरोंके मिलते रहनेका झगड़ा तो अभी लगा हुआ है। अभी खैर नहीं है। चाहे महल बनवा लो, चाहे बड़े-बड़े मिल कार-खाने खोल लो, पर अभी खैर नहीं है। इतना बड़ा झगड़ा, इतनी बड़ी विपदा इस जीवपर पड़ी हुई है केवल एक मिथ्या कल्पनायें बनानेके अपराधमें।

भावापराधका कठोर दण्ड—कोई न कुछ सा अपराध करे और उसे आप दंड दे दें तो लोग आपका नाम धरते हैं, न कुछ सी बात पर इसे पीट दिया, यह कितना बड़ा आपने अन्याय किया, आप बड़े जालिम हो, यों धिक्कार देते हैं और यहाँ तो किसीने कुछ छीना नहीं, कुछ नहीं किया, अपने ही भीतरमें ऐसा भाव होने लगा कि यह शरीर मैं हूं, इतनी सी बातका इतना कठोर दंड मिला कि इस लोकमें कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ यह जीव अनन्त बार पैदा न हो चुका हो ? तब समझ लीजिए कि यह छोटासा अपराध नहीं है, यह सर्वाधिक महान अपराध है इस जीवके क्लेशके लिए। परद्रव्योंको ऐसा स्वीकार करना कि यह मैं हूं, लो यही महान अपराध हो गया। जिसके फलमें यह महती विपदा भोगनी पड़ी है, कहां सन्तोष करते हो ? किस कार्यकी सिद्धिमें तुम सन्तुष्ट होकर अपनेको कृतार्थ मानते हो ? निजस्वरूपकी सुध न हो, दृष्टि न हो तो सब बेकार जीवन है।

कर्मोंकी प्राकृतिक विचित्रता व एक दृष्टान्त—यह कर्मोंकी विचित्रता न किसी दूसरे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवने की और न खुद मैंने किया। जो मुझमें बँधे हुए कर्म हैं उनकी विचित्रता मैंने उत्पन्न नहीं की। मुझे तो इनका पता भी नहीं रहता, मुझे तो ये दिखते भी नहीं। हां आगमबलसे हम आपने जान लिया है, पर जब आगम न छुवा था तबकी बात सोचो। कुछ कर्मोंकी बात जानते थे क्या ? हम उनमें कुछ नहीं करते, वे होते हैं अपने आप। हां हम निमित्त अवश्य हैं। जैसे संध्या कालके समय अथवा प्रातःकाल चन्द्र अथवा सूर्यका सन्निधान पाकर बादल लाल पीले हो जाते हैं तो वह ललाई किसने किया ? न इन्द्र आकर करने गया, न कोई राजा करने गया, न सूर्य, चन्द्र आदि करने गये, वह बिम्ब तो अचेतनकी भांति है, किसी परद्रव्यमें कुछ बात करनेका जिनमें आशय नहीं बन रहा वे तो अचेतनकी तरह हैं। भले ही एक इन्द्रिय जीव हैं ये चमकीले पृथ्वीकाय, एकेन्द्रियका जिसके लिए है उसके लिए है। यह विचित्र बादल की ललाई किसीकी बनाई हुई नहीं है, यह तो किसी दूसरेका योग्य निमित्त पाकर अपने आप हुई है अथवा बरसातके दिनोंमें कभी-कभी बादलपर अर्द्धवृत्ताकार इन्द्रधनुष बन जाता है। उसमें कैसे सीमित रंग आ जाते हैं, यह सब किसने किया ? योग्य वातावरण पाकर स्वयमेव उसरूप परिणम गया ना।

प्राकृतिक विचित्रतापर अन्य दृष्टान्त—और भी देख लीजिए भैया ! देहरादून मंसूरी के पासकी जो बरसाती नदियाँ हैं उनमें कैसे विचित्र गोल-मटोल बढ़िया आकारके पत्थर हैं ? उनको किसने बनाया ? अरे योग्य सन्निधान होनेपर वे स्वयं उस आकारमें परिणम गये। किसी ने प्रोग्राम रचा हो उनके बनानेका और फिर बनाया हो, ऐसा तो नहीं है। उन पत्थरोंमें वह विचित्रता तो अपने आप आयी। तो जैसे ये अनेक पुद्गल स्कंध अन्य कर्ताकी अपेक्षा बिना स्वयं उत्पन्न हो गए हैं, निमित्तके सन्निधानकी बात बराबर है, पर जो परिणाम है उसके भीतरकी बात तो निरखो। निमित्तभूत पदार्थोंने स्वयं अपना परिणमन तो नहीं किया। तो जैसे ये अनेक पुद्गलस्कंधके विकल्प भेदप्रकार अन्य कर्तासे निरपेक्ष होकर, अन्य कर्ताके बिना उत्पन्न हो जाते हैं इस ही प्रकार योग्य जीवपरिणामका सन्निधान पाने पर ये कार्माण, ये ज्ञानावरण दर्शनावरण आदिक बहुत प्रकारोंके कर्म बिना अन्य कर्ताके अर्थात् स्वयं उपादान कर्तासे ही ये सब कर्म स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं।

तत्त्वज्ञान—भैया ! वस्तुगत सीमाकी दृष्टि बन जाना यही तो तत्त्वज्ञान है। किसी भी परिस्थितिमें आप कहीं कुछ भी बाहरमें परिणाम नहीं करते हैं, अपने जीव तत्त्वको संभालो और उस ही को निरखकर देख लो, मैं किसी भी परमें कुछ करता हूं क्या ? केवल विकल्प इच्छा योग करता हूं। हम योग और उपयोगके कर्ता हैं, इससे आगे जो कुछ होता है अपने आप होता है। हाँ इसमें निमित्त जीवका मिथ्यात्व रागादिक परिणाम है और वे मिथ्यात्व रागादिक परिणाम जीवमें जीवके उपादानसे हुए हैं। ये हुए हैं इस ही स्थितिमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि यह जीव निज कारणसमयसारकी दृष्टिसे रहित है, इसके अपने सहजस्वभावका श्रद्धान नहीं है, प्रतिभासात्मक सच्चिदानन्दस्वभावका इस जीवको ज्ञान नहीं है, इस कारण जीवमें मिथ्यात्व रागादिक परिणाम उपजते रहे आये हैं। अब उनका तो पाया निमित्तमात्र और यहाँ कार्माण वर्गणायें योग्य पुद्गल स्वयं कर्मरूप बनीं तो उपादान जीवने नहीं किया। जो उन कर्मोंरूप नहीं परिणमा और यह उन परिणामोंका निमित्त पाकर मूलभेद उत्तरभेद नाना प्रकृतियोंमें ये कर्म परिणम गये हैं।

चेष्टाओंमें अकर्तृत्व—वस्तुस्वातन्त्र्य व निमित्तनैमित्तिक सम्बंधकी पद्धतिकी बात अपनी हर एक बातमें घटाते भी जाइये। यह तो कर्मोंकी बात कही। हाथ उठाना, हाथ जोड़ना, अंगुली मटकना, जिह्वा, ओंठ चलाना, पलक उठाना, गिराना, कुछ भी तो चेष्टा यह जीव नहीं किया करता। जीव तो अंत: निर्दोष केवलज्ञान इच्छा और योग प्रयत्न करता है। वह प्रयत्न भी अपने प्रदेशोंमें चलने चलानेरूप किया। इस जीवको चाहे उपचारसे कर्ता कह लीजिए, पर इसने निजस्वरूपसे बाहर कुछ नहीं किया। और देखो सिस्टेमेटिक हाथ पैर हिलते, सारी बातें ढंगसे हो रही हैं, पर जीव यह कुछ नहीं कर रहा है। केवल जीवके भावों का निमित्त पाकर यह सब स्वयं हो रहा है। ऐसे इस जीवकी भीतरकी रचनाको ज्ञानी संत यहां बतला रहे हैं कि कर्मोंकी यह सारी विचित्रता जीवके भावकर्मसे स्वयं हुई है।

जीवा पोग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा सुहदुःखं दिंति भुंजंति ॥६७॥

भोक्तृत्व अन्तराधिकार—निकटपूर्वमें यह आशंका की गयी थी कि कर्म यदि कर्मको करते हैं और आत्मा आत्माको ही करता है तो कर्म उसे फल कैसे देता है, और आत्मा कर्म का फल कैसे भोगता है? इस आशंकामें दो भाग हैं—एक कर्तृत्वके विषयमें शंका और एक भोक्तृत्वके विषयमें शंका। कर्तृत्व सम्बंधी शंकाका समाधान कर दिया गया है और भोक्तृत्व-सम्बंधी शंकाका समाधान किया जा रहा है अथवा इस ग्रंथमें पूर्वरंगके बाद एक अधिकार-सूचक गाथा कही गयी थी कि यह जीव है, चेतयिता है, उपयोगविशेषित है, कर्ता है, भोक्ता है, प्रभु है, कर्मसंयुक्त है आदि। उन अधिकारोंमें कर्तृत्व अधिकार तो यहां समाप्त किया गया है, अब भोक्तृत्व अधिकारकी बात कह रहे हैं।

व्यवहारका अविरोध—इस गाथामें यह बात दिखायी है कि निश्चयदृष्टिसे जीव जीव का कर्ता है और कर्म कर्मका कर्ता है, फिर भी व्यवहारसे जीव कर्मप्रदत्त फलका भोक्ता होता है, इस बातका विरोध नहीं है। जीव और पुद्गलकाय, जीव और कर्ममें अन्योन्यावगाहग्रहणसे प्रतिबद्ध है अर्थात् इनका परस्परमें एक क्षेत्रावगाह और निमित्तनैमित्तिक बन्धन है। जब ये कर्म अपने समयपर वियुक्त होते हैं तो सुख दुःखको देते हैं और आत्मा सुख दुःखको भोगता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टिके कथनका क्या अंतर है ? इसको जरा एक दृष्टांतसे सुनिये।

नीलरंग व भींतका सम्बंधव्यवहार—यह भींत नीले रंगसे पुती हुई है। लोग क्या कहते हैं कि इस नीले रंगने भींतको नीला कर दिया, पर यथार्थतया यह तो बतावो कि नीले रंगमें नीले रंगने वह नीला रंग किया या भींतमें ? नीला रंग जो पहिले डिब्बीमें एक ढेलेके रूपमें था अथवा एक पाउडरके रूपमें था, अब वह नीला रंग एक बहुत पानीमें आकर उस पानीका निमित्त पाकर और कूंची वगैरा साधनोंका निमित्त पाकर वही रंग जो ढेलेके रूपमें था वह अत्यन्त पतला बनकर इतनेमें फैल गया। इस नीले रंगने भींतको नीला नहीं किया। इस रंगके भीतर भींत तो वहीकी वही है। इस रंगने रंगको ही नीले विस्तारमें फैला दिया, लेकिन व्यवहारदृष्टिसे तो यह कहा जा रहा है और लोग इसे बहुत ठीक मानते हैं कि हाँ इस नीले रंगने सारी भींतको नीला बना दिया। क्या किया इस नीले रंगने ? नीले रंगको नीला किया, इस बातका विश्लेषण यदि करायें तो कुछ थोड़ासा कठिन पड़ता है।

नीलका नीलमें सर्वस्व—नीलेने नीलेको नीला किया, तो वह नीला दूसरा कुछ है क्या जिसको नीला किया और वह नीला दूसरा दूसरा कुछ है क्या, जिसने नीला किया। कोई अन्य चीज है क्या ? नहीं है। यह नीला रंग किसका है ? लोग कहेंगे कि यह भींतका है नीला रंग। क्या यह भींतका है नीला रंग ? यह तो नीले रंगका नीलापन है, भींतका नहीं है, वह नीलापन उसी नीले रंगका है। इस नीले रंगने अपनेको भी कुछ नहीं किया। यह था पहिले और भाँति, पर्यायरूपसे अब हो गया और भाँति।

अन्यका अन्यपर मोहपरिणमनका अभाव—अब जरा और उतरकर देखो। लोग कहते हैं कि इसने अपने पुत्रपर बड़ा मोह कर रक्खा है। क्या इस पिताके जीवमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह इस दूसरे जीवपर मोह कर सके। किसी भी वस्तुकी कोई भी परिणति उस वस्तुके प्रदेशके बाहर त्रिकाल भी नहीं हो सकती। यह एक अमिट सिद्धान्त है। कहीं घटा लो। यह पिताका जीव जितना है। विस्तारमें उस जीवमें जो भी तरंग उठेगी वह तरंग उन प्रदेशोंमें ही उठेगी। इसका मोहरूप परिणमन होता है तो इसके प्रदेशोंमें वह मोहरूप परिणमन होता है। तब इसने अपने आपमें मोहरूप परिणामको किया और भोगा। दूसरे जीवपर मोह नहीं किया, न दूसरे जीवपर मोह भोगा। किन्तु कोई पूछे कि जीव तो न्यारे सभी हैं ! इसी जीवके बारेमें इसी पुत्रके सम्बंधमें अपना मोह किया, इस प्रकारका व्यवहार क्यों बना ? अन्य जीव पर क्यों व्यवहार नहीं बना ? उसका कारण यह है कि इस पिताके जीवके मोहरूप परिणामका आश्रयभूत यह पुत्र जीव है, इसलिये यह व्यवहार बन उठा कि इसने पुत्रपर मोह किया। कोई किसीपर मोह नहीं कर सकता, न प्रेम कर सकता, न द्वेष कर सकता। जो कोई जो कुछ कर रहा है अपने आपमें विकार परिणाम कर रहा है। पर मेरा जो आश्रयभूत है, जिस पर-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को विषयमें लेकर यह मोहपरिणामकी तरंग उठती है, उपचार उसीपर किया जाता है कि इसने इसपर मोह किया। निश्चयसे बात ऐसी है और ऐसी ही स्वतंत्रता कर्मकी कर्मरूप परिणमनमें है। यहाँपर निमित्तकी बात बराबर मानकर भी अंतः की बात निरखनेपर अंतः के नाते ही पूरे जोरसे निरखा जाय तो बात सम्मत हो जाती है।

अन्तः स्पष्ट निर्णय—भैया! अन्य धर्मका विरोध करके देखनेपर भी बात ठीक नहीं जमती और जिस दृष्टिसे देख रहे हैं, उस दृष्टिका जोर न देकर भीतरमें सशंक होकर कि वह भी तो एक दृष्टि है, हम ऐसा जाननेसे कुछ रुकें, इसमें भी ज्ञानकी दृढ़ता नहीं आती। हम दाहिने तरफकी भींतको देखें तो दाहिने तरफकी ही सारी बातें नजरमें आयेंगी ना? और कोई ऐसी शंका करे कि दाहिनी भींत ही क्यों देख रहे, यह भी तो है, अरे है ठीक है, उसे जान लिया, समझ लिया, हमको यहाँके देखनेकी अभिरुचि है। कितना अच्छा रंग पुता है, कितने अच्छे चित्र लगे हैं तो हम इनको देख रहे हैं। पर, दृष्टिमें शंका रखना और परकी दृष्टिका विरोध करना—ये दोनों तत्त्वज्ञानके बाधक हैं। तो यह जीव और पुद्गलकाय निश्चयदृष्टिसे अपने आपमें अपना ही परिणमन करता है, फिर भी व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तो यह अन्योन्यावगाहसे प्रतिबद्ध है, यह उस बन्धनमें है और जब यह पुद्गलकाय अपना समय पाकर वियुक्त होगा, निकलेगा, उदित होगा, तो यह सुख दु:खको देता है और आत्मा कर्मोंका फल प्राप्त करता है।

जीव और कर्मका परस्पर अवगाह व बन्धन—जीवमें मोह रागद्वेषका चिकनापन है और पुद्गल स्कंधोंमें भी स्वभावतः स्निग्ध गुण है। यह केवल एक किसी नातेके साथ समझानेके लिए कहा गया है। कहीं यह बात नहीं है कि कर्म वर्गणाके स्निग्ध गुणके कारण जीवमें कर्मबन्ध हुआ। उनका कर्मोंकी स्निग्धताका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध नहीं है। वहाँ तो जीव परिणामका और उस वर्गणामें अन्तः रहने वाली योग्यताका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, लेकिन एक बात प्रसिद्ध है व्यवहारमें—देखे हुए पुद्गल स्कंधोंके बन्धनमें यह चिकना, रूखा गुणके कारण बँध जाता है, तो उस बन्धनको अलंकार रूपमें भी समझनेके लिए यह कहा जाता है कि जीवमें भी द्वेषका रूखापन भरा है, रागकी चिकनाई भरी है और इस पुद्गलमें भी रूखापन और चिकनाई स्पष्ट है। लो यों बन जाता है, यह अलंकारिक कथन है। तात्पर्य यह लेना कि मोह रागद्वेष विभाव परिणामोंका निमित्त पाकर ये कार्माणवर्गणायें कर्मरूप हो जाती हैं। जैसे कि ये परमाणु परस्पर एक दूसरेमें अवगाहरूपसे प्रतिबद्ध हैं ऐसे ही यह जीव और कर्म परस्परमें एक दूसरेके अवगाह रूपसे प्रतिबद्ध हैं।

कर्मफलोपभोग—जब ये बद्ध कर्म जीवसे वियुक्त होते हैं अर्थात् जीव प्रदेशमें से ये कर्म उदित होते हैं, निकलते हैं तो इन कार्माणद्रव्योंका कर्मत्व दूर होता है तो ये कर्म कहलाते

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हैं उदित प्रच्यवमान । उदयमें आकर निकले हुए ये कर्मप्रच्यवमान और-और प्रकारसे भी होते हैं । निर्जराके रूपसे प्रच्यवमान और यही है उदितरूपसे प्रच्यवमान । तो जब उदयमें आकर ये निकलते हैं तो निश्चयसे यह जीव सुख दुःखरूप अपने आत्माको भटकाने वाला होता है और व्यवहारसे इष्ट अनिष्ट विषयका निमित्तमात्र होनेसे कहा जाता है कि ये पुद्गल वर्गणायें इस जीवको सुख दुःखरूप फल दिया करती हैं । निमित्तनैमित्तिकताके कारण पदार्थमें एकका दूसरेमें कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वामित्व आदि सम्बंध बताया जाता है, वह सब उपचार कथन है । अब कर्म कर्मरूप परिणमते हैं निश्चयसे ऐसा होनेपर भी उस सम्बंधमें जैसे कर्तृत्वकी बात कही थी कि जीव उनका कर्ता है इसी तरहसे यहाँ भी बात लो कि कर्म जीवको फल देते हैं, जीव कर्मके फलको भोगते हैं । जिस निमित्तसे फल मिला उस निमित्तपर यह व्यवहार किया जाता कि उसने फल दिया ।

उपादानोपादेय भाव व निमित्तनैमित्तिक सम्बंध—गाली देने वालेने दूसरे पुरुषको यदि क्रोध उत्पन्न कर दिया तो यह उपचार कथन है कि इस गाली देने वालेने इस जीवको क्रोध उत्पन्न कर दिया । वस्तुतः बात ऐसी नहीं है । उस क्रोधीने अपनी क्रोधपर्यायमें अपनेको ही क्रोधी बनाया, ऐसे ही कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जीवने जो सुख दुःख आदिक फल भोगा है उसमें ऐसा उपचार किया जाता है कि कर्मने जीवको फल दिया है । निमित्तनैमित्तिक सम्बंधको कोई खण्डित नहीं कर सकता । और फिर भी प्रत्येक उपादान अपने आपके स्वरूप में अपनी योग्यतासे परिणमते हैं, इसका भी कोई खण्डन नहीं कर सकता है, और इस निर्णय में फिर यह बात घटित हो जाती है कि जीवने जीवको ही किया और जीवने कर्मको किया । कर्मने कर्मको किया, कर्मने जीवको फल भी दिया । ये दोनों बातें जिस विशाल ज्ञानमें विरोध को प्राप्त नहीं होती हैं वह एक स्याद्वादकी कृपासे ही विशाल ज्ञान प्राप्त होता है ।

सुख दुःखकी विकाररूपता—इस जीवमें जो सुख दुःख परिणाम होता है ये दोनोंके दोनों विकार हैं, इनमें से सुख उपादेय है और दुःख हेय है, ऐसा निर्णय न करो, ये सुख दुःख दोनों ही हेय हैं । संसारके सुख आकुलता बिना नहीं भोगे जाते हैं । निराकुलता रूप तो एक आत्मीय सहज आनन्द है । उससे विपरीत आकुलताके उत्पादक ये हर्ष विषादरूप बाह्य इष्ट अनिष्ट विषयोंकी प्रीति रूप जिसका विपरीत रस है, आत्मीय शान्तिसे विरुद्ध जिसका रस है, ऐसे सांसारिक सुख दुःख यह जीव अपने स्वरूपकी दृष्टि पाये बिना भोगता चला आ रहा है ।

आत्मवैभव—सबसे उत्कृष्ट वैभव क्या है ? आत्मदृष्टि । इसके मुकाबले बाहरमें कुछ और भी वैभव है क्या ? एक अपना साहसपूर्वक निर्णय कीजिए । जहाँ अपना उपयोग परम विश्राम को प्राप्त होता है वही तो एक सर्वोत्कृष्ट ग्रहण करनेकी चीज है । बाह्य वैभव जड़

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सम्पदा ये सब पौद्गलिक ठाट-बाट इनमें फंसकर इस जीवको चैन मिलती हो तो अपने अनुभवसे सोचो। और कभी कुछ थोड़ी बहुत चैन मिले तो समझिये कि बहुत बड़े क्लेशसे हटकर कुछ कम क्लेशमें आये हैं। वस्तुत: वह चैन नहीं है। जैसे किसीको बहुत बुखार हो, मान लो १०४ डिग्री बुखार है और उतरकर १०० डिग्री बुखार रह जाय तो वह कहता है कि अब मुझे चैन है। वस्तुत: चैन नहीं है, अभी तो दो डिग्री बुखार है, पर वह कहता है कि अब हम चैनमें हैं। इस ही प्रकार ये संसारके जीव विषयोंकी लालसासे दु:खी होते जा रहे हैं। कदाचित् कोई किसी विषयमें लालसा कम हुई तो उस प्रसंगमें यह व्यवहार किया जाता है कि मुझे कुछ शान्ति मिली है। वस्तुतः शान्ति तब ही है जब इच्छावोंका अभाव हो जाय। ये इच्छायें इस जीवको चैन नहीं उत्पन्न करने देती हैं। किसी समय किसी क्षण इन विकारोंसे उपेक्षा भाव कर देवे और उस उपेक्षा भावके कारण अपने आपके स्वरूपकी स्मृति जगे, जगेगी ही तो उस स्वरूपके अनुभवमें जो आनन्द उत्पन्न होता है वास्तविक आनन्द वह है।

अन्तः कल्याण—अब यदि आप गृहस्थीके जालमें फंसे हैं तो लोगोंकी जानमें तुम फंसे ही बने रहो, नहीं तो लोग तंग करेंगे। कोई ऐसा उपाय रचेंगे लोग कि वे आपको हैरान करेंगे। तो तुम सब लोगोंकी जानमें फंसे तो बने रहो, लेकिन भीतरमें गुप्त होकर अपना काम कर जावो। इसी उपायमें खैर है और उपायोंमें तो विपत्ति है। दूसरा उपाय करना हो तो फिर एकदम प्रकट चौड़ेमें आकर करो, गृहस्थीमें रहकर और बड़ी ऊंची विरागताकी बातें, परिवारके लोगोंको जताये तो घरके लोग तो यही समझेंगे कि ऐसा कहनेकी इनकी आदत है, है कुछ नहीं। और इससे लाभ क्या? अपना काम अपनी समझमें गुप्तरूप से ही अपने अन्तरङ्गमें करते जाइये। इसे कौन रोकता है? अभेदभासना, स्वरूपदृष्टि सब कुछ उत्सुकता बनाये रहें और इस ही ओर अपना कदम बढ़ाते रहें, बाहरके जीवोंमें अधिक पड़नेसे कुछ लाभ नहीं है। यह जीव अपने कियेका फल स्वयं भोगता है और जिस प्रकार कर्मोंका उदय हुआ है उस अनुरूप भोगता है। व्यवहारसे यह जीव कर्मफलको भोगता है, निश्चयसे अपने परिणामोंको भोगता है। भोगनेके सम्बंधमें दोनों दृष्टियोंसे यह निर्णय बनाइये और विभावफल भोगनेसे बचनेका अन्तरङ्ग पुरुषार्थ कीजिए।

तम्हा कम्मं कत्ता भावेण हि संजुदोध जीवस्स।
भोत्ता दु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं ॥६८॥

कर्तृत्व व भोक्तृत्वके व्याख्यानका उपसंहार—जीव किसका कर्ता है और किसका भोक्ता है—इन दोनों विषयोंका वर्णन करके अब इस गाथामें कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी व्याख्याका उपसंहार किया गया है, जब कि निश्चय और व्यवहारनयके विभावसे यह सिद्ध हो गया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि जीव और कर्म परस्पर एक दूसरेके उपादान कर्ता नहीं हैं। निश्चय तो एक दूसरेका उपादान कर्ता मानता ही नहीं है। व्यवहारनयसे भी उपादान कर्ता एक दूसरेका नहीं कहा गया है। इतना तो पूर्ण सुनिश्चित है। कोई द्रव्य किसी द्रव्यका उपादानकर्ता नहीं होता है, फिर भी यह बात भी नहीं टाली जा सकती है कि किसी द्रव्यमें जो विरुद्ध विभाव परिणमन होता है वह किसी परके सन्निधान बिना नहीं होता है, वहाँ निमित्त पाकर ही विभाव परिणति होती है।

नयविभागसे कर्तृत्व और भोक्तृत्व—इन दोनों नयविभागोंसे यह निष्कर्ष निकला कि कर्म उपादान दृष्टिसे अपने परिणमनका कर्ता है। कार्माणवर्गणामें कर्मत्वरूप परिणमन का कर्ता निश्चयसे कर्म है और ये कर्म व्यवहारदृष्टिसे जीवके रागद्वेष आदिक भावोंका कर्ता है। इस प्रकार कर्म अपना तो निश्चयसे और जीव परिणामोंका व्यवहारसे कर्ता है। जीव निश्चयसे अपने भावोंका कर्ता है और व्यवहारसे द्रव्यकर्मका कर्ता है। कर्ताके विषयमें एक दूसरेसे परस्पर सम्बन्ध जोड़ दिया गया है किन्तु भोक्ताके बारेमें किसी भी नयसे कर्मका जीव से सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता है। जैसे क्या यह कहा जा सकता है कि कर्म अपनेको भोक्ता है और यह कर्म किसी जीवके परिणामका भोक्ता है। नहीं, क्योंकि कर्म अचेतन हैं और निश्चयसे भी कर्ममें व्यवहारसे भी परके भोक्तृत्वकी बात नहीं लादी जा सकती है।

जीवके अकर्तृत्व व भोक्तृत्वके सिद्धान्तकी उपपत्ति—देखो ना भैया! इसी कारण सांख्यसिद्धान्तमें जीवको अकर्ता तो माना है, पर अभोक्ता नहीं माना है। जीव रागादिक भावोंका करने वाला नहीं है। सांख्य सिद्धान्तकी दृष्टिसे इसको निरखिये। जीव रागद्वेषादिक भावोंका कर्ता नहीं है क्योंकि रागद्वेषादिक भावोंको करने वाली प्रकृति है। वह प्रकृति क्या स्वरूप रखती है? इसका स्पष्ट वर्णन तो कहीं नहीं मिलता। हाँ जैनसिद्धान्त इस प्रकृतिको एक कार्माणवर्गणाके रूपमें पुद्गलद्रव्यको एक विभाग मानता है और जैन सिद्धान्तमें प्रकृतिको व्यवहारसे रागादिक परिणामोंका कर्ता कहा है। इसी मर्मके कारण एकान्ततः प्रकृति ही कर्ता है ऐसा मान लिया जा सकता है, पर जब भोगनेका प्रस्ताव आया तब उस समय कर्म को भोगने वाला नहीं कहा जा सकता।

दार्शनिकतामें नितान्त निराधारताका अभाव—भैया! एकदम गप्प कहीं फबती नहीं है। प्रकृतिको कर्ता कह दिया है रागादिक भावोंका यह तो कुछ खपसा गया, क्योंकि व्यवहारदृष्टिसे कर्म जीवके रागादिक भावोंका कर्ता है। कुछ थोड़ी सी गुञ्जाइश देखकर हठ बनानेकी बात तो थोड़ी चल भी सकती है किन्तु जहां कुछ भी नहीं है, तिल भी नहीं है तो ताड़ कैसे प्रसिद्ध किया जा सकता है और ऐसा प्रसिद्ध करनेमें बात यों नहीं फब सकती। मान लो कह दिया जाय कि ये कर्म सुख दुःख फलको भोगने वाले हैं। अच्छा ठीक है, पर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सुख दुःख फलका कर्म भोक्ता है तो यह कर्म ही करे कुछ उद्यम अगर इसे दुःखसे बचना है। हमारा क्या उसमें बिगड़ा और सुनने वालोंको भी रुचिकर नहीं हो रहा है कि कर्म रागादिक भावोंका अथवा सुख दुःखका भोगने वाला है, इस पर कोई जरा भी दिलचस्पी विश्वास नहीं रख सकता। अतएव कर्म एक भी नयसे सुख दुःख परिणामको भोगने वाला नहीं है।

कर्तृत्वका कारण—यह कर्तृत्व जीवमें क्यों आया? इसका कारण है संयुक्तता। अच्छे कुलके सदाचारी बालकके जैसे विरुद्ध व्यवहार करनेका साहस बन जाय तो जैसे यह बात किसी दुष्टसंगके बिना नहीं हो पाती है इस ही प्रकार जाननहार जिसका स्वभाव है, जिसका बहुत निर्मल पवित्र कुल है ऐसा ज्ञायकस्वभाव इस आत्मतत्त्वमें विपरीत भाव आ जाय, रागद्वेष ये ही दुराचार हैं जीवके, तो ये दुराचार किसी परके संयोग बिना नहीं आ सकते हैं, जीवका सदाचार है केवल ज्ञातादृष्टा रहना। कोई अन्तरङ्गमें राग विरोध वाली तरंग नहीं उठती। इसके विरुद्ध जो भी परिणमन होता है वह जीवका दुराचार है, समस्त दुराचार परप्रसंगमें हुआ करते हैं।

विपरीत आचरण—लोग मानते हैं कि हम अपने घरमें रहते हैं, कमाते हैं, अन्याय नहीं करते, रोज ताजा बनाते हैं, कोई अभक्ष्य भी नहीं खाते, मौजसे रहते हैं, अपने कामसे काम है तो मैं तो बड़े सदाचारसे रहता हूं। अरे किसी भी परपदार्थमें ममता होना, राग जगना यह जीवका दुराचार है। जब आध्यात्मिक दुराचार वाले जीवोंका समूह जुड़ गया है तब उनके बीचमें दुराचारकी स्थूल और व्यावहारिक व्याख्या बनी है। हिंसा करना, झूठ बोलना, कुशील सेवन करना, परिग्रहमें तृष्णाकी बुद्धि रखना, ममता करना—ये सब दुराचरण हैं तो ये तो दुराचरण हैं ही, पर इस आत्माके कुलकी बात तो निरखिये। इस आत्माके कुल में क्या करना आत्माके योग्य है? जो सिद्ध भगवान करते हैं, जो अरहंत भगवान करते हैं वही योग्य काम है। इससे पहिले छद्मस्थ अवस्थामें और अविरत मिथ्यात्व अवस्थामें जो भी व्यवहार विचार उठता है वह इस ब्रह्मस्वरूपके विनाशके मुकाबलेमें सब विपरीत आचरण है। इस आत्माका यह आत्मा ही सर्वस्व है—इस ज्ञानका ज्ञान रखना ही सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है।

आत्माका पितृत्व—आत्माका पिता आत्मा, आत्माका पुत्र आत्मा। आत्माकी रमणी आत्मा, आत्माका वैभव आत्मा। यह तो स्वयं प्रभु है। पिता कहते हैं उसे जो रक्षा करे। पाति इति पिता। पा रक्षणे धातु है जिसका अर्थ रक्षा करना है, जो रक्षा करे उसका नाम पिता है। मेरी आत्माकी रक्षा करने वाला कोई दूसरा हो सकता है क्या? खूब हिल-मिलकर रहकर सब तो निरख लिया होगा। आपका ज्ञान काबूमें न रहे तो आप दुःखी हो जाते हैं। आपका ज्ञान आपके संयममें रहे तो आप दुःखी नहीं रहते। किसी पुरुषकी चित्तवृत्ति बिगड़ जाय, जिसे लोग कहते हैं पागल होना, ऐसा पागलपन आ जाय तो उसके घरके लोग रिश्ते-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दार सब कोई कितना प्यार करके समझाते हैं, गोदमें बैठालकर सिरपर हाथ फेरकर अपने हृदयसे लगाकर बड़ी प्रेमभरी बातोंसे उसका क्लेश दूर करना चाहते हैं, पर वहाँ क्या असर होता है ? उसका तो ज्ञान बिगड़ गया, पागलपन छा गया, अब वह कष्टमें है । अपना ज्ञान अपनेमें विशुद्ध रहे, निर्मल रहे, मात्सर्य नहीं, द्वेष नहीं । किसी परपदार्थमें आसक्त न हो, सावधान रहे जिसमें अपने आपकी सुध बनी रहे ऐसा ज्ञान हो तो इस आत्माको खुद शरण हो गया।

आत्माका पुत्रत्व—आत्माका पुत्र आत्मा है । पुत्र किसे कहा है ? वंशं पुनाति इति पुत्रः । जो वंशको पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं । जो वंशको पवित्र न करे उसका नाम पुत्र नहीं है । उसका नाम सुत रख सकते हैं । सूयते इति सुतः । जो पैदा हो उसे सुत कहते हैं । इस मुझ आत्माका वंश है चित्स्वभाव, चैतन्यस्वरूप । वंश उसे कहते हैं जो परम्परा रखता है । मेरा आत्मा इस चैतन्यभावकी परम्परा रखता है, अन्य लौकिक वंशकी परम्परा नहीं रखता । आज इस घरमें मनुष्य हैं और मरकर कहीं घोड़ा, बैल हो गये तो काहेका यह वंश रहा ? क्या कभी यह जीव इस चैतन्यके अन्वयका त्याग कर सकता है ? तो इसका वास्तविक वंश है चैतन्य । उस चैतन्य वंशको जो पवित्र करे वह है पुत्र । तो इस चैतन्य वंशको कौन पवित्र कर सकता है ? मैं ही कर सकता हूं ।

जीवकी भावप्रधानता—देखिये यह जीव एक भावात्मक भावप्रधान पदार्थ है । जैसे इन पुद्गल ढेरोंको हम हाथमें लेकर फेंक सकें, दिखा सकें, इस तरह इस आत्माको प्रयोगमें नहीं ला सकते । यह तो एक भावस्वरूप है, और इस भावमें चेतनता बसी हुई है । स्वभाव इसका एक प्रतिभास करते रहनेका है । किसने बनाया यह ? है यह अनादिसे । किसी पदार्थका स्वरूप कोई बना नहीं सकता । पदार्थ स्वयं अपने आपमें त्रिगुणात्मक हैं, समर्थ हैं, त्रिदेवतामयी हैं, उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त हैं । सृष्टि, संहार, सनातनता—इस प्रकार त्रिदेवतामयी पदार्थ स्वयं अपने आप हैं । यह जीव भावप्रधान है और चेतनाभावमें त्रिगुणात्मक है ।

भावप्रधानताके प्रसंगमें उद्देश्यपूरक अलंकारिक कथनकी भूमिका—इस प्रसंगमें थोड़ा अलंकारके ढंगसे और उद्देश्यको लक्ष्यमें लेकर एक प्रकरण सुनिये—मान लो अपनी कल्पना में कि दुनियामें केवल एक ही चीज है—सत् । यद्यपि यह सत् जाति अपेक्षा एक कहा गया है, व्यक्ति अपेक्षा नहीं । व्यक्तिकी अपेक्षासे तो सत् उतने होंगे जितने कि परिणमन होंगे । परिणमन जितनेमें हो जाता है पूरा उतनेमें एक सत् है । जैसे हमारा सुख परिणमन जितनेमें होता है उतना मैं एक सत् हूं । यों प्रत्येक अनुभवनके साथ व्यक्तिभेद है । लेकिन चाहे कुछ भी पदार्थ हो, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल कुछ भी हो, आखिर ये सब हैं तो सत् । तो केवल एक दृष्टिसे सत्त्व जातिको निरखो तो सब एक सत् मात्र मालूम होते हैं ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

किसी दार्शनिकने तो एकान्तता मान भी डाली कि एक सत् ही सत्त्व है । सद् ब्रह्म है, है यह सब ठीक एक जाति अपेक्षा, पर एक बात समझानेके लिए उनकी थोड़ी देरकी बात मानकर इस विषयकी जानकारी बढ़ायें ।

षडात्मकताका एक लोकदृष्टान्त—मान लो सारे लोकमें एक ही सत् है । ठीक है रहने दो । अब यों निरखिये कि जो भी पदार्थ होता है वह सदात्मक होता है । उसमें ६ स्वरूप होते है—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव । जैसे एक यह चौकी है तो चौकी यह तो नाम हुआ । और इसको अपनी बुद्धिसे ऐसा मान लिया कि जो यों यों है ना वह चौकी है, यह स्थापना हो गयी और इस चौकीकी जो कुछ पूर्वापर परिणतियाँ हैं उन सबको लक्ष्यमें लेकर चौकी कहते हैं यह द्रव्य हुआ और चौकीका जो परिणमन है वह भाव हुआ और चौकीका जो क्षेत्र है वह क्षेत्र है, चौकीकी जो पर्याय है परिणति है वह काल है ।

षडात्मकताका प्रासंगिक रूप—अब इसे कुछ व्यवहारिकताका रूप देने के लिए इसमें यों देखिये, नाम जो शब्द कहा गया वह नाम है । जो व्यवहार चलानेका मूल हो वह नाम है । स्थापना है, जो उसमें ठहरा दे सो स्थापना । ष्ठा गतिनिबृत्तौ एक धातु है जिसका तिष्ठति वर्तमान रूप बनता है । ठहरना उस ष्ठा धातुको स्थापना माना । स्थापना मायने ठहराना, द्रव्य मायने पिंड, पदार्थ, जैसे कि किसी चीजको उठा कर बता देते हैं और भाव मायनें एक स्वभाव जो कि पकड़ा नहीं जाता । केवल परिणाम । और क्षेत्र, काल स्पष्ट है । सो स्वयंमें अभी एक सत् माना था, वह सत् सत्तात्मक हो गया । बात आज एकदम कठिन आ गई कहनेमें, लेकिन कोई बात कठिन सुनकर भी यह श्रद्धा बनाई जा सकती है कि वस्तु के अवगममें कैसे अनोखे प्रकार हुआ करते हैं ?

षडात्मकतामें भिन्न-भिन्न प्रधानता—उस एक सत्को अब छांट लो । जो द्रव्यात्मक है वह तो है पुद्गल क्योंकि पिंडरूप पुद्गल ही समझमें आता है । तो द्रव्यप्रधान पदार्थ है पुद्गल, क्षेत्रप्रधान पदार्थ है आकाश, कालप्रधान पदार्थ है कालद्रव्य । यह सब अलंकारिकताकी बात चल रही है । केवल मर्म पानेके लिए यह कथन किया जा रहा है । कहीं वह सब एक ही सत् हो और उसका यह अंश निकला हो और उनसे पदार्थ बना हो, ऐसा नहीं है । पर मर्म जाननेके लिए बात कही जा रही है । नाम उसे कहते हैं जो चलाये । नामका काम है चलाना । नाम बिना कोई काम चलता भी है क्या ? और लोग तो यों स्पष्ट कह भी देते हैं कि इनका नाम अच्छा चला । तो नामका काम चलना हुआ करता है । किसी पदार्थ का नाम न धरे तो बात कैसे चले ? और चलाना काम है धर्मद्रव्यका । तो नामात्मकतामें धर्मद्रव्यका संकेत हुआ । स्थापनात्मकतामें अधर्मद्रव्यका संकेत हुआ, क्योंकि ठहराना है काम अधर्मद्रव्यका । अब रह गया एक भाव । क्या जीवमें चलाने ठहरानेकी प्रधानता है ? क्या

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अवगाह देनेकी प्रधानता है ? जीवमें प्रधानता भावकी है।

भावप्रधानताके वर्णनसे उपादेय शिक्षा—इस वर्णनसे हम अपने हितके लिए क्या निष्कर्ष निकालें कि हम कल्याणके लिए, शान्तिके लिए अपने आपके भावोंकी प्रधानताको सोचा करें। हम कितने लम्बे चौड़े हैं, ऐसा सोचनेसे ज्ञानानुभूति न होगी। यह जीव वर्तमान में कैसी परिणति रखता है ऐसा सोचनेसे अनुभव न होगा, किन्तु „यह मैं जीव एक चिद्भावात्मक हूं। एक उस चैतन्यस्वभावरूप अपने आपमें मग्न हों तो ज्ञानानुभूति हो जायगी। ऐसा यह अपना पवित्र वंश वाला आत्मा यह अपनी कलासे वंशको पवित्र रख सकता है। इस कारण यह आत्मा ही आत्माका पुत्र है।

आत्मवैभव—आत्माके गुण और उन गुणोंका विकास यही आत्मवैभव है। देखिये—जब कोई चिन्ता नहीं रहती है, कोई परपदार्थका संकल्प-विकल्प नहीं रहता है उस समय निज विश्रामके कारण जो प्रकाश आनन्द प्राप्त होता है वैभव तो वही है। जिन भगवानको हम प्रायः पूजते हैं उनमें क्या विशेषता है ? यही वैभव उनमें प्रकट हुआ है। ये जगतके मनुष्य जड़ वैभवके पीछे लगे हुए हैं। उन जड़ वैभवकी कल्पनावोंमें ही अपना उपयोग फंसाये हैं। हमारा वैभव तो यही एक शुद्ध चैतन्यप्रकाश है, ऐसा पवित्र उत्कृष्ट होकर भी जीव सुख दुःखका भोगने वाला है, इष्ट अनिष्ट साधनोंका भोगने वाला है, ये सब विपरीत आचरण परसंयोगके बिना नहीं हो सकते।

कर्ममें भोक्तृत्वका अभाव व जीवमें भोक्तृत्व—यहाँ यह सिद्धान्त स्थित हुआ कि निश्चयसे आत्मा आत्माको करने वाला है, व्यवहारसे जीवके रागादिक परिणामोंका करने वाला है। जीव भी निश्चयसे अपने भावोंका करने वाला है और व्यवहारसे कर्मोंका करने वाला है। यह तो करनेकी बात समाप्त की गई, अब भोगनेका प्रस्ताव लाया जा रहा है। इसमें भोगनेकी बात कहते हुए अटक लग गई। किसका भोगने वाला कहा ? कर्म अपनेको भोगने वाला है, यह भी बात खपती नहीं है। यद्यपि अनुभवनकी दृष्टिसे चेतन अचेतन पदार्थ सभी अपने स्वरूपका अनुभवन करते हैं, पर वहाँ उस अनुभवनका अर्थ परिणमन है। परमार्थ से तो जीव सुख दुःखादिकको भोगता है, जीवके भावोंको भोगता है। यह भी ठीक नहीं बनता। तो जैसे दोनों नयोंसे कर्मोंको कर्ता कहा गया था, यहाँ किसी भी नयसे कर्मको भोक्ता नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चैतन्यपूर्वक अनुभवका सद्भाव कर्ममें नहीं है। चेतनपन होनेसे केवल जीव ही कर्मके फलभूत और कथञ्चित् आत्माके सुख दुःख परिणामको भोगता है। और व्यवहारसे इष्ट अनिष्ट विषयोंको कथञ्चित् भोगता है।

शुद्ध स्वरूपकी प्रतीति—इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्वके विषयमें यह सब कुछ स्पष्ट कर दिया गया है। इसमें हम यह लक्ष्य बनायें कि न तो मेरे कर्मोंका सम्बंध है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निश्चयतः, और न रागादिक परिणामोंसे सम्बन्ध है निश्चयतः न सुख दुःख आदिकसे सम्बंध हैं। कोई सीधे पर है, कोई नैमित्तिक भावसे होनेसे पर है। मैं तो एक ध्रुव शुद्ध चैतन्यस्वभावरूप हूं, इस प्रतीतिमें हमें शान्तिका मार्ग मिलेगा।

एवं कत्ता भोत्ता होज्झं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥६९॥

कर्मसंयुक्ततामें प्रभुता—अब कर्मसंयुक्तके रूपसे प्रभुत्व गुणकी व्याख्या की जा रही है। यह जीव प्रभु है, समर्थ है, यह कर्ता है, भोक्ता है, और प्रभुताकी व्यक्तिमें इस समय कर्मोंसे सहित होता हुआ मोहसे आक्रान्त होकर इस अपारसंसारमें भी घूम रहा है, यह भी एक जीवकी प्रभुता है। जब यह कर्मसंयुक्त रहता है तब यह प्रभु अपनी कैसी प्रभुता प्रकट करता है और जब कर्मरहित होता है तब यह अपनी कैसी प्रभुता प्रकट करता है? जैसे किसी पुरुषमें बहुत बल है, अब उस बलका प्रयोग दूसरे जीवोंके सतानेमें कर रहा है, तो भी बलका माहात्म्य तो है ही और फिर कदाचित् वहाँसे मुख मोड़कर जीवोंकी संतोंकी सेवामें रक्षामें अपना बल लगा रहा है तो यह भी बलका माहात्म्य है। बल है इसका किस ही प्रकार उपयोग किया जाय। बलका बलत्व तो बराबर है। ऐसे ही यह जीव प्रभु है, अब यह किसी ओर लग जाय। कर्मसंयोगसे लग जाय तो अपार संसारमें परिभ्रमण करे ऐसी प्रभुता पाता है और कर्मरहित हो जाय तो अनन्त आनन्द भोगे, सर्वज्ञता बने, ऐसी प्रभुता पाता है।

कर्तृत्व व भोक्तृत्वमें नयविभागकी दृष्टि—निश्चयनयसे यद्यपि यह जीव कर्मका कर्ता और कर्मका भोक्ता नहीं है, फिर भी व्यवहारसे यह जीव कर्मका कर्ता और कर्मका भोक्ता कहा जाता है। इन दोनों नयोंका कैसा समन्वय है और कैसा मर्म निरखा जा रहा है कि जहाँ इसको भी नहीं मना किया जा रहा है कि परसम्बंधको पाकर निमित्त पाकर यह जीव रागादिक रूप और सुख दुःख आदिक रूप परिणम रहा है, और यह भी नहीं मना किया जा सकता है कि यह जीव स्वयं अपनी योग्यताके अनुसार अपनी ही शक्तिसे रागादिक रूप और सुख दुःख आदिक रूप परिणम रहा है। रागादिक रूप परिणमनेका नाम तो कर्तृत्व है और सुख दुःख आदिक रूप परिणमनेका नाम भोक्तृत्व है। भोगा, इसका अर्थ यही है कि वह सुख रूप परिणमा अथवा दुःखरूप परिणमा। इस जीवने कुछ किया, इसका अर्थ यही तो निकला कि इसने रागद्वेष मोहरूप परिणमन किया। सो इस प्रकार यह जीव कर्मसे संयुक्त होकर अपने शुभ और अशुभ कर्मोंके अनुसार, पुण्य पाप द्रव्यकर्मके अनुसार, शुभ अशुभ भावोंके अनुसार यह संसारमें परिभ्रमण करता है।

व्यक्त प्रभुता—यद्यपि निश्चयसे यह संसारमें व्याप्त नहीं है। संसारभावमें नहीं लगा हुआ है, यह तो अनन्त ज्ञानादिक गुणोंका आधारभूत है, पर वर्तमान दशाको देखा जाय तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इस स्वभावसे विपरीत जो चतुर्गतियोंका संसरण है उस परिभ्रमणमें यह जीव लगा हुआ है। इसमें जो भव्य पुरुष हैं उनका तो संसारका अन्त आ सकेगा, पर अभव्य जनोंके संसारका अंत कभी न आयगा। कैसी प्रभुता और कैसी स्वयं अपने आप रचना हो जाती है कि कितने प्रकारके जीव, कैसे-कैसे शरीर, कैसी-कैसी उनकी चेष्टाएँ, कैसे-कैसे विस्तार, यह सब इस जीव के कारण ही तो रहा है। तो जीवकी कैसी प्रभुता है ? इन दोनोंमें प्रभुताकी शक्ति प्रकट है, पर जब कर्मबद्ध है तो इसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अधिकार प्रकट हुआ है। प्रभुता नहीं तो और क्या है ? व्यक्त प्रभुता है।

प्रभु और संसारीकी प्रभुता—भगवान अज्ञान और विकाररूप नहीं परिणाम सकते, वह तो अपने शुद्ध ज्ञान और शुद्ध आनन्दरूप परिणम रहे हैं। यह उनकी प्रभुता है। ये मिथ्यादृष्टि जीव शुद्ध ज्ञान और आनन्दरूप नहीं परिणमा सकते, किन्तु अज्ञान, विकार भ्रमणरूप परिणम सकते हैं। भगवान तो सीधा-सादा सच्चा काम कर रहे हैं, पर यहाँके संसारी अज्ञानी जन टेढ़ा, कुटिल, कठिन, असम्भव काम किये जा रहे हैं। क्या संसारी जीवों में प्रभुता नहीं है ? भगवान ही में प्रभुता है क्या ? भगवानकी प्रभुता भगवानके ढंगकी है, जैसा है तैसा ज्ञानमें आ गया, निराकुल हैं, निर्विकल्प हैं, उनका सीधा काम है, और संसारी सुभटोंका काम देखिये, जो बात नहीं है उसे होनी करना चाहते, कितनी विडम्बना, कितने प्रकारके शरीर, प्रभुता है ना इस जीवमें, तो वह जायगी कहाँ ? संसारी जीवोंकी प्रभुता इस रूपमें प्रकट हुई है।

भावसंसरण व क्षेत्रसंसरण—यह जीव अनादिकालसे मोहके आवरणसे ढका हुआ है, इस कारण इसका विपरीत अभिप्राय प्रकट हुआ है। और उससे सम्यग्ज्ञानकी ज्योति अस्त-मित हो गयी है। सम्यग्ज्ञान अभी प्रकट नहीं है सो अज्ञानी होता हुआ यह सान्त अथवा अनन्त इस संसारमें परिभ्रमण करता है। संसार नाम है निश्चयसे विभावपरिणामका। यह जीव कहाँ डोल रहा है, इस प्रश्नका उत्तर निश्चयसे यह आयगा कि यह जीव अपने विभाव में, उपयोगमें, कल्पनामें, रागद्वेषादिक भावोंमें डोल रहा है, यहाँ ही चक्कर लगाया करता है और फिर व्यवहारसे स्पष्ट समझमें आये, ऐसा परिभ्रमण बतायें तो यह ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें ऐसा परिभ्रमण कर रहा है कि यहाँका कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ यह अनन्त बार उत्पन्न न हो चुका हो। ऐसा परिभ्रमण किया, और अज्ञानके वश ही रहा हो ऐसा ही परिभ्रमण करेगा। अच्छा यह तो क्षेत्रकी दृष्टिसे समझमें आया, अब और तरहसे देखिये।

द्रव्यसंसरण—इस जीवने इतना परिभ्रमण किया कि उस परिभ्रमणके कालमें ये जगतके सारे उपभोग्य परमाणु जो शरीररूप बन जाते हैं उन परमाणुवोंको अनेक बार ग्रहण किया। न ग्रहण किया हो उनका ग्रहण किया, ग्रहण किया हो उनका भी बारबार ग्रहण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

किया और ऐसा भी ग्रहण किया कि उसमें कुछ ग्रहण किया हुआ भी आया, कुछ न ग्रहण किया हुआ भी आया। यहाँ एक प्रश्न किया जा सकता कि यह जीव जब अनन्त कालसे परिभ्रमण कर रहा है तो न ग्रहण किया हुआ तो कुछ रहता ही नहीं, फिर अगृहीतका ग्रहण कैसा ? जो कुछ ग्रहण कर रहा है वह गृहीत ही गृहीत कर रहा है। समाधानमें यह समझना कि हम जबसे उसका एक परिवर्तन लगा रहे हैं अपनी कल्पनामें उस समयसे हिसाब लगाने पर अगृहीत बन जाता है। तो यों अनन्त बार गृहीत तो एक बार अगृहीत ग्रहण किया। फिर अनन्त बार अगृहीत, फिर एक बार गृहीत, यों अनन्ते बार गृहीत हों, फिर एक बार मिश्र। उसी प्रक्रियासे एक बार मिश्र होनेके बाद अनन्त बार अगृहीत हों तो एक बार गृहीत, फिर अनन्त बार गृहीत होनेपर मिश्र, यों अनन्त मिश्र हो लेंगे। फिर और बदल लीजिए। अनन्त बार गृहीत हुआ तो एक बार अगृहीत, यों अनन्त बार अगृहीत हुआ तो एक बार मिश्र। ऐसे ढंगसे सर्व परमाणुवोंको नाना विधिसे ग्रहण किया। इसमें ज्ञातव्य यही बात रख लो उसमें जो परिभ्रमण बनता है, ऐसे-ऐसे अनन्त परिवर्तन इस जीवने किये।

कालसंसरण—ये सब परिभ्रमण अज्ञानके कारण हैं। वह अज्ञान क्या ? जो प्रायः अब भी करते जा रहे हैं, यह तो मेरा ही है। है किसका ? ये कुटुम्बी जन तो मेरे ही हैं, और हैं किसके ? उस अज्ञानसे अब भी अनेक जीव बाज नहीं आते हैं। श्रद्धामें बसाये हैं और यह मिथ्या श्रद्धान तब तक कैसे मिटे जब तक अपने आपकी विचित्रताका इसे श्रद्धान न हो जाय। अब कालके ढंगसे भी सोच लीजिए। किसी उत्सर्पिणी कालसे कल्पनामें शुरू करो। अबसे अनन्त उत्सर्पिणी पहिलेकी किसी उत्सर्पिणीसे ख्याल करो। इस जीवने उत्सर्पिणी काल लगते ही पहिले समयमें जन्म लिया। इसके बाद फिर जो उत्सर्पिणी लगी उससे किसी भी समय पैदा हो वह गिनतीमें नहीं है। किसी उत्सर्पिणीमें फिर दूसरे समयमें पैदा हुआ, फिर किसी उत्सर्पिणीमें तीसरे समयमें पैदा हुआ वह क्रम लेना है। बीचमें तो अनन्त बार अन्य-अन्य समयोंमें पैदा हुआ उसे नहीं लेना है। ऐसे क्रमसे उत्सर्पिणीके जितने समय हैं और अवसर्पिणीके जितने समय हैं क्रमसे उत्पन्न हो ले। अब सोच लीजिए कितना परिभ्रमण इसका हो गया। यह तो अभी एक परिवर्तन है। ऐसे न अनन्त परिवर्तन किये हैं। इस जीवके भ्रमण की बात कही जा रही है, क्या यह सम्भव नहीं है ? सम्भव है। जब अनन्त भ्रमण हो रहे हैं तो इतनी बातमें क्या सन्देह ?

भवसंसरण—अब एक और नई दृष्टि लगावो—भवभ्रमणकी। जैसे नारकी जीवोंकी कमसे कम आयु १० हजार वर्षकी होती है और अधिकसे अधिक ३३ सागरकी होती है। ३३ सागरमें अनगिनते करोड़ों वर्ष समाये हुए हैं। कोई जीव १० हजार वर्षकी आयु लेकर नारकी बना। नारकी जीव मरकर तुरन्त ही नारकी नहीं बना करता है, ऐसा नियम है, वह तिर्यंच

http://www.jainkosh.org

या मनुष्य बने, फिर नारकी हो, अब नारकी मरकर और कुछ स्थिति लेकर बने। यों ११–१२ हजार वर्ष आदि अन्य अन्य प्रकार वर्षकी आयु लेकर नारकी हो, वह गिनतीमें नहीं है। १० हजार वर्षमें जितने समय होते हैं उतनी बार १० हजार वर्षकी आयु लेकर पैदा होने लगे और फिर १० हजार वर्ष एक समय अधिककी आयु लेकर पैदा हो ले, भिन्न आयुको इस क्रममें नहीं गिना है, यों एक एक समय बढ़ बढ़कर आयु लेकर ३३ सागरकी आयु पूरी कर ली, तब समझ लो कितना भ्रमण हुआ। यह तो एक भवपरिवर्तन है। ऐसे ही देवगतिमें लगावो, वहाँ भी कमसे कम १० हजार वर्षकी आयु है। और भ्रमण वाले जीवमें अधिकसे अधिक ३१ सागरकी आयु है। इससे अधिक आयु वाला देव नियमसे सम्यग्दृष्टि होता है। उन्हें परिवर्तनके क्रममें नहीं ले सकते क्योंकि उनको ग्रहण करनेसे तो खेल ही भव भ्रमणका सारा मिट जायगा। ऐसे ही वहाँ भी एक-एक समय अधिक आयु ले लेकर देव भव बदले, वहाँ भी यह नियम है कि देव मरकर तुरन्त देव नहीं बनता। देवगतिका जीव मरकर मनुष्य अथवा तिर्यञ्च होगा, फिर वह देव हो सकता है। यों दूसरा भवपरिवर्तन हुआ। मनुष्यकी कमसे कम आयु अंतर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक आयु ३ पल्यकी है। पल्यमें असंख्यात वर्ष होते हैं। यह आयु भोगभूमिज मनुष्यकी है। यों ही तिर्यंचकी आयु है। वहाँ भव पूरा करे। यों एक एक भवपरिवर्तन यह पूरा हुआ। ऐसे ऐसे इस जीवने अनन्त भव परिवर्तन किया।

जीवस्वभाव व वर्तमान परिणमन—यह जीव स्वभावतः अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्तशक्तिकी योग्यता रखने वाला है, किन्तु विपरीत बुद्धि करके मिथ्यात्व कषायमें ग्रस्त होकर परिभ्रमण कर रहा है। इसे रंच भी विषाद अथवा लाज नहीं आती। इसको रागद्वेष मोह करनेकी ऐसी कुटेव पड़ गयी है। सम्यग्ज्ञान जगे तो सांसारिक भ्रमण कर्तृत्व भोक्तृत्व इन व्यवहारोंकी लाज आयगी। अज्ञानमें ही अज्ञानके कर्मोंमें बुद्धिमानी मानी जाती है।

अपराध और निर्लज्जताका उदाहरण—एक घटना है कि तीन पुरुषोंने मिल करके एक ही घरमें बराबरमें चोरी की। न्यायालयमें वह घटना पहुंची। न्यायाधीशने सोच समझ कर उनका निर्णय दिया। एक को कह दिया कि तुझे धिक्कार है जो इस कामको किया। इतना ही दंड दिया। एकको कुछ दिनोंके लिए जेलमें रख दिया। और तीसरेको यह दंड दिया कि इसका मुँह काला करके गधेपर चढ़ाकर गांवमें घुमाया जाय। लोगोंको शंका हुई कि तीनोंने एक ही अपराध किया और ऐसे भिन्न-भिन्न दण्ड क्यों दिये गए? सो सुन लीजिए जिसे धिक्कार करके छोड़ दिया था वह घरमें जाकर किसी टंकीमें या कुटियामें घुसकर अपने प्राण घुटाकर मर गया। इतना उसके मनमें पछतावा आ गया। अब गधे वालेकी बात सुनो—

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जब मुँह काला करके गधेपर बैठाकर घुमाया जा रहा था और जब वह अपने द्वारपर पहुंचा, देखा कि स्त्री खड़ी है तो चिल्लाकर कहता है कि पानी गरम करके रखना, थोड़ा और घूमनेको बाकी रह गया है। उसके लिए यह दण्ड भी कम रहा।

अपराध, विपदा और निर्लज्जता—अहो, इतना महान् कष्ट भोगा जा रहा है, शरीर का बन्धन परिवारका बन्धन, अनेक इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, कल्पनावोंके क्लेश, शरीरमें व्याधियाँ उत्पन्न हो जायें उनकी वेदनाएं, और रोज-रोजकी भूख प्यासकी अलग वेदनाएं, इतने कठिन दुःख भोगे जा रहे हैं और उन दुःखोंके भोगे जानेका अपराध केवल इतना है कि हम निजको निज परको पर जाननेका निर्णय और वृत्ति नहीं रखते। कहने सुननेमें तो बड़ा मामूली सा अपराध है और उसके फलमें इतना जाल! जाल भी भोगते जा रहे और इन क्लेशोंका जो कारण है उस कारणको नहीं छोड़ना चाहते। यह स्थिति है संसारचरिभ्रमण करने वाले जीवोंकी। जैसे लाल मिर्च खानेके शौकीन लोग लालमिर्च खाते भी जाते हैं, सी-सी भी करते जाते हैं, आँसू बहाते जाते हैं, फिर भी और लाल मिर्च लावो, यों माँगते हैं। इसी प्रकार ये संसारके अज्ञ जीव ऐसे कातिर हो गए हैं, ऐसे आधीन बन गए हैं, अपनेमें ऐसी विवशता मान रक्खी है कि एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण किया और उस शरीरके प्रसंगमें जो समागम मिला उस समागममें राग विरोध कल्पनाएँ कीं। मिटा, फिर कहीं उत्पन्न हुआ वहाँ रागद्वेष मोह, ऐसी विडम्बनाओंमें यह जीव चक्र लगाता है और अपना जो शुद्ध प्रताप है उस प्रतापसे वञ्चित हो जाता है।

निराकुलताके उद्यमका कर्तव्य—हम आप सब जीव हैं। हम आपको ऐसी निराकुलताका यत्न करना चाहिए कि जो स्वाधीन हो और कभी मिटे नहीं। ऐसी निराकुलता है मोक्षमें। मोक्षका मार्ग अपनाना चाहिए। मोक्षका मार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता। विशुद्ध सहज अपने सत्त्वके कारण जो मेरा स्वरूप है, स्वभाव है तन्मात्र मैं हूं ऐसा भीतरमें विनिश्चय होना चाहिए, और अपने उपयोगको ऐसे ही चिन्तनमें लगाना चाहिए और रतिरमण भी ऐसी ही भावनामें बनाना, यह है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी स्थिति। ऐसा होनेका जिस ज्ञानीने प्रोग्राम बनाया है उसको ऐसा होनेमें बड़ी बाधायें आ रही हैं क्योंकि अनादिसे विषय कषायकी वासनामें यह रत रहा है। जब उन बिषयकषायोंकी वासना दूर करनेके लिये तप व्रत संयम, अध्ययन समस्त व्यवहार करता है। यह व्यवहार भी इस दृष्टिमें धर्म है और ऐसा व्यवहार करके भी ज्ञानी पुरुष अपने मुख्य लक्ष्यको भूलता नहीं है। मेरा सुख मोक्षमें है और मोक्ष कैवल्यमें है ऐसा निर्णय करके अपने आपमें अपने कैवल्यस्वरूपको निरखा करता है। स्वयं सहज कैसा ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, उस ज्ञानप्रकाशरूप अपनेको अनुभवा करता है। बस यही शुद्धवृत्ति इस जीवके संसार-भ्रमणके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विनाशका कारण होती है ।

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो ।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ।।७०।।

कर्मवियुक्ततामें प्रभुताका वर्णन—जब यह जीव कर्मसे वियुक्त होता है तब इसे कैसी प्रभुता प्रकट होती है ? उस सहज प्रभुताका इसमें वर्णन है । इस प्रभुताकी चर्चामें ही जागृति और अपूर्व आनन्द मिलता है । जो सहज प्रभुता है उसके आनन्दका कोई लोकमें उपादान नहीं है । प्रभुता व्यक्त होनेका प्रारम्भ होता है सम्यक्त्वसे । दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतियाँ मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ—इन ७ प्रकृतियोंका उपशम हो तो उपशमसम्यक्त्व होता है । क्षयोपशम हो तो क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है । क्षय हो तो क्षायिक सम्यक्त्व होता है । आत्माके निर्मल परिणामोंमें ऐसी प्रभुता है कि जैसे कहावतमें कहते हैं कि सिंहके समक्ष स्याल हो तो खाया हुआ मांस भी उगल देता है । यों ही निर्मल परिणाम हों तो भव-भवके बांधे हुए कर्मोंका विकट उथल-पुथल होता है और उथल-पुथल होकर वे नष्ट हो जाया करते हैं । यह सब करणानुयोगके ग्रन्थोंसे जाना जा सकता है ।

क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धलब्धि और देशनालब्धि—इस जीवको सबसे पहिले क्षयोपशमलब्धि प्रकट हुई, कुछ विशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मोंमें जो अनुभाग पड़े हुए थे, तीव्र थी फलदान शक्ति, उससे शिथिलता हुई, वह क्षयोपशमलब्धि है, और क्षयोपशमके कारण विशुद्ध परिणाम बढ़े वह विशुद्धलब्धि है । फिर ज्ञानी संतोंके उपदेश मिले वह देशनालब्धि है । अब सोच लो—इन तीन लब्धियोंमें से दो तो हम आप सबको मिल चुकी हैं । हम आपका क्षयोपशम क्या बढ़ा नहीं है, विशुद्धिकी क्या हम आप लोगोंमे योग्यता नहीं है ? देशनालब्धिकी बात सबके अपने निजी विचारोंकी बात है । किसीको मिल गई, किसीको नहीं मिली ।

प्रायोग्यलब्धिकी विशेषता—इसके पश्चात् प्रायोग्यलब्धि होती है । अब जरा ध्यान से सुनिये—प्रायोग्यलब्धिमें कितना अद्भुत चमत्कार हो जाता है ? परिणामोंकी निर्मलताका नाम लब्धि है । इस जीवके देशनालब्धि तक बहुत कोड़ाकोड़ी सागरोंके कर्मोंकी स्थिति है । जब प्रायोग्यलब्धि प्रारम्भ होती है तब उसकी अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरकी ही स्थिति रह जाती है, और फिर उसमें भी घटती जाती है, जब सात आठ सौ सागर और घट जाती है तो इस मिथ्यादृष्टि जीवमें इतनी प्रभुता प्रकट होती है इसके कि नरकायुका बंध नहीं होता । फिर सात आठ सौ सागर और घट जायें तब तिर्यंच आयुका बंध नहीं होता है, इसी प्रकार पृथक्त्वसागर और घटनेपर मनुष्य तथा देव आयुके भी बंध रुक जाते हैं । फिर पृथक्त्वसागर कम होनेपर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नरकगति व गत्यानुपूर्वी बंधापसरित हो जाते हैं। इसी तरह ३४ तरहके बंधापसरणोंमें पृथक्त्व सागर बंध कम होता है। इतना काम भव्य भी कर लेते हैं और अभव्य भी कर लेते हैं। ऐसे काम अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव कर लें, यहाँ तक तो बल चलता है। इसके बाद अभव्यके करण-लब्धि नहीं चलती है, अधःकरण और अपूर्वकरण भी नहीं चलता।

करणत्रयका सामर्थ्य—भैया! अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण—ये तीन परिणाम कई बार होते हैं। गुणस्थानोंमें जो अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरणका नाम लिया है वह चारित्र मोहके क्षय करनेके लिए लिया है। जब जीवके उपशम सम्यक्त्व होता है तब अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण हो जाते हैं और ये मिथ्यात्वमें हो जाते हैं। जब यह जीव क्षयोपशम उत्पन्न करता है तब अधःकरण और अपूर्वकरण दो परिणाम होते हैं। वहाँ अनिवृत्तिकरण नहीं होता है। अब समझ लिया जायगा कि अनिवृत्तिकरण परिणाम होनेपर एकसा परिणाम हुआ करता है। क्षयोपशम सम्यक्त्वमें एकसा परिणाम क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता। क्योंकि वहाँ चल मलिन अगाढ़ दोष है। यहाँ अनिवृत्तिकरण नहीं होता। अनन्तानुबंधीका विसंयोजन हो तो तीन करण हैं दर्शनमोहका उपशम हो तो तीन करण हैं, दर्शनमोहका क्षय हो तो तीन करण हैं, संयमासंयम हो तो २ करण हैं अधःकरण अपूर्वकरण। यहाँ भी नजर कर लो। अनिवृत्तिकरण परिणाम न होनेसे संयमासंयममें भी एकसा परिणाम श्रावकका नहीं रहता। यह आत्मा महाव्रत धारण करे तो वहाँ २ करण होते हैं—अधःकरण व अपूर्वकरण। वहाँ पर भी विषमता होती जब चारित्रमोहका क्षय करता है तब तीन करण होते हैं। इन तीन करणोंमें अधःकरण तो सातिशय अप्रमत्तविरतमें हो जाता है। अपूर्वकरण आठवें गुणस्थानमें होता है और अनिवृत्तिकरण नवमें गुणस्थानमें होता है। यहाँ आठवें नवमें गुणस्थानका नाम परिणामके नामपर ही रख दिया गया है। अधःकरणमें अनन्तगुणी विशुद्धि चलती रहती है। अपूर्वकरणमें अनन्तगुणी विशुद्धि, स्थितिघात, हीन स्थितिबंध, अनुभागघात, प्रदेशनिर्जरा व अनेक अशुभ प्रकृतियोंका शुभप्रकृतिमें संक्रमण होने लगता है।

अनिवृत्तिकरणकी प्रगति—जब अनिवृत्तिकरण होता है तो विकट खलबली कर्मोंमें मच जाती है। जैसे—मान लो इस समय पौने आठ बजे हैं और ५ मिनट बाद इसका उपशम सम्यक्त्व होगा और मान लो ३ मिनट तक उपशम सम्यक्त्व रहेगा ५० मिनटसे ५३ मिनट तक तो ५० मिनटसे ५३ मिनट तककी स्थिति वाले जितने ये ७ कर्म हैं सम्यक्त्व घातक इनमें जब जिसकी विसंयोजना है तो वह स्थिति हटकर या तो ५० मिनटसे पहिले वाली बन जायगी या ५३ मिनटसे अगली वाली बन जायगी। वहाँ यह उपशम सम्यग्दृष्टि इतना निर्मल होता है जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वघाती प्रकृतियोंकी सत्ता नहीं है ना, ऐसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ही उन तीन मिनटोंकी सत्ता इसके भी नहीं है, तभी तो अनिवृत्त अर्थात् सदृश परिणाम रहता है। यों तो परकी बात कही गयी है।

आत्मविकासका वैभव—अब निजका चमत्कार देखो—सम्यक्त्वका परिणाम मिले, उससे भी बढ़कर और कुछ वैभव है क्या ? ये तीन लोकके हीरा जवाहरात रत्न सारेके सारे सामने आ जायें तो भी उनसे इस आत्माका क्या हित हो जायगा ? इनसे आत्माकी कोई तरक्की है क्या, शान्ति है क्या ? कुछ भी नहीं है। ये सारे तीन लोकके पाषाण भी इकट्ठे हो जायें तो उससे वास्तविक आनन्द नहीं आ सकता। किन्तु एक अपना सम्यक्त्व परिणाम जगे, अपनी दृष्टि अपने आपके सहजस्वभावको पकड़ ले तो उससे बढ़कर अमीरी जगतमें क्या है ?

ज्ञानवैभवके महत्वका एक उक्तिमें प्रदर्शन—एक साहित्यकारने लिखा है कि कोई राजा घमंडमें आकर एक साधुके सामने छाती फुलाकर जा रहा था तो साधुने तो नहीं कहा पर साधुकी ओरसे कवि कल्पना करके कहता है एक श्लोकमें "अर्थानामीशसे त्वं···।" हे राजन् ! तुम अर्थ अर्थात् धनका गर्व कर रहे हो, तुम्हारे चित्तमें यह अभिमान है कि मेरे ऐसा वैभव है अर्थ है, तुम अपनेको धनी मानकर महान समझ रहे हो तो तुम्हें कुछ पता है ? हम भी अर्थके भण्डार हैं। शब्दके अर्थ निकलते हैं ना। तुम्हारे अर्थ तो ये पत्थर हैं और हमारा अर्थ ज्ञानात्मक है। एक कविकी कल्पना है। तुम यदि बड़े-बड़े रेशमी अच्छे वस्त्रोंसे मौज माना करते हो, संतुष्ट हुआ करते हो तो यहाँ हम दिशावोंके अम्बरसे अथवा बल्कलोंसे अपनेको तृप्त बनाये रहते हैं, और और भी बातें कहनेके पश्चात् फिर कहा कि यह निर्णय करलो कि दरिद्र कौन है और धनी कौन है ? जो सन्तुष्ट हो वह धनी है, जो असन्तुष्ट हो वह दरिद्र है।

आगमाभ्यासकी प्रेरणा—भैया ! अब जरा आगमके शब्दोंके अर्थका संचय करिये और उन अर्थोंसे सन्तुष्ट रहा करिये, इसमें अनुपम सन्तोष मिलेगा। साराका सारा तन, मन, धन, वचन सब खोकर भी यदि एक निज सहज स्वभावकी दृष्टि मिलती है तो समझो कि हमने सब कुछ पा लिया। और एक अपने सहज स्वभावकी दृष्टि खोकर बाह्यमें चाहे ६ खण्ड का वैभव भी पा लिया तो भी आपने खोया सब कुछ है, पाया कुछ नहीं है। यह ज्ञानी पुरुष जिसने दर्शन मोहका उपशम किया है, क्षयोपशम किया है, विपरीत आशयोंसे विमुक्त हो गया है। इसी कारण इसके महती अन्तःप्रसन्नता है। यह अब निर्मम हो गया है।

ज्ञानीकी अन्तः निर्भयता—परपदार्थोंमें यह मैं हूं, यह मेरा है, इस प्रकारका आशय रखना सो विपरीत आशय है। मेरा तो मात्र मैं हूं। जो ज्ञानादिगुणमय है, अमूर्त है, निर्नाम है, केवल एक चैतन्यप्रकाशमात्र है, जिसका किसीसे व्यवहार नहीं चलता, ऐसा यह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मैं चैतन्यप्रकाशमात्र आत्मतत्त्व हूं। मैं (नाम लेकर) यह नहीं हूं। (समागमोंका नाम लेकर) ये मेरे नहीं हैं। अरे देह तक भी मेरा नहीं है फिर अन्य कुछ वैभव तो मेरा होगा ही क्या? यह जीव तो केवल कल्पनाजालोंको गूथ कर अपना अमूल्य समय खो रहा है। लाभ कुछ भी नहीं उठा पा रहा है। ज्ञानी पुरुष जिनेन्द्र भगवानके आगमको पाकर, इस जैनशासनको पाकर इसका सदुपयोग करता है, मोहसे निवृत्त हो जाता है, इसके सम्यग्ज्ञानकी ज्योति प्रकट हो जाती है। अब इसके भय नहीं रहा। इस ज्ञानीके कैसी भी स्थिति गुजरो पर यह अन्तः भय नहीं रखता। उसके निर्णयमें यह बात पड़ी हुई है कि ये सारे समागम रंग ढंग सब बीचकी बातें हैं। यह मैं तो गुजर कर आगे जाता हूं। मार्ग दिख गया, अतएव घबड़ाहट नहीं है।

मार्गनिर्णयमें भी आकुलताकी निवृत्ति—जैसे कोई मुसाफिर अंधेरी रात्रिको किसी जंगलमें फंस गया, रास्ता भूल गया तो अब वह कहाँ जाय, कहीं मार्ग ही नहीं सूझ रहा। एक साहस बनाकर वह वहीं ठहर गया, जो कुछ होगा देखा जायगा, पर जहाँका तहाँ ही वह ठहर गया। इतनेमें एक बिजली चमकी और उस बिजलीके क्षणिक प्रकाशमें उसे सामने सड़क दिख गई। यह वह सड़क है जिससे हमें जाना है और उस सड़कसे यह पगडंडी मिल रही है। एक नजरमें सब कुछ समझमें आ गया। वह बिजली क्षण भरमें ही समाप्त हो गयी फिर वही घोर अंधकार छाया हुआ है, फिर भी उस मुसाफिरको रंच आकुलता नहीं है। उसकी समझमें यह बात पड़ी हुई है कि वह है रास्ता, वहाँ जाना है, थोड़ी सी रात और गुजरनी शेष है। सबेरा होते ही इसी रास्ते से चले जायेंगे। ऐसे ही इस ज्ञानी पुरुषने सब अपना हाल जान लिया कि मैं अमूर्त चैतन्यप्रकाश हूं, मेरा मात्र मेरे भावोंका परिणमन है। मेरा सब कुछ मैं हूं। मेरा भविष्य मुझमें है। इसही उपायसे हम अपने उस सहज ज्ञान और आनन्दके पदको प्राप्त कर लेंगे। सदा निराकुल रह जायेंगे। निराकुल तो मेरा स्वरूप है, सब कुछ निर्णयमें समाया है तो वर्तमानमें चाहे कितने ही झंझट लगे हों, लेकिन दृष्टिमें फिर भी वह अन्तरङ्गमें तृप्त है। चाहे बहिरङ्गमें कुछ उद्वेग भी हो रहा हो।

सम्यग्दृष्टि नारकीका अन्तः प्रसाद—सम्यग्दृष्टि पुरुष नारकी भी हो और वह बाह्यमें बड़े उपद्रव भोग रहा है। शरीरका दुःख, नारकियोंसे मरने पिटनेका दुःख, जहाँ तिल तिल बराबर देहके टुकड़े भी कर दिये जाते हैं फिर भी पारेकी तरह मिलकर फिर खड़े हो जाते हैं, जिनकी बीचमें मृत्यु भी नहीं होती है और ऐसे बाहरी अनेक दुःख भोगकर भी सम्यग्दृष्टि नारकी अन्तरङ्गमें कैसा निराकुल रहता है? इस मर्मको ज्ञानी पुरुष ही जान सकता है। सम्यग्दृष्टि नारकी भी दूसरे नारकियोंको मारता पीटता, वह भी दूसरे नारकियों द्वारा मारा पीटा जाता, लेकिन सम्यग्दृष्टि नारकीको अंतः संक्लेश नहीं है और अन्य नारकी जो कृष्ण,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नील, कापोत लेश्या वाले हैं वे अंतः संक्लिष्ट रहा करते हैं।

सम्यग्दृष्टि देवोंकी अन्तः निर्मलता—देवोंकी भी बात देखो—देव लोग बड़े-बड़े भोग साधनोंके बीच रहते हैं। छोटेसे छोटे देवके कमसे कम ३२ देवांगनाएं होती हैं और बड़े देवोंके तो हजारों देवांगनाएँ होती हैं। दूसरे उन देवोंके, यहाँके मनुष्यों जैसा कोई विवाद नहीं है। वे खूब मनमाने भोग भोगते हैं। उन देवोंमें भी जो सम्यग्दृष्टि देव हैं। वे इन भोगोंके बीच रहकर भी अत्यन्त उदास रहते हैं। उनका झुकाव तो अपनी ओर रहा करता है। इस मर्म को ज्ञानी जन जानते हैं। भला बतलावो जो इस पंचमकालमें कुन्दकुन्द, समंतभद्र, अकलंक इत्यादि ऋषि संत हो गए हैं। वे इस समय अब कहाँ पर होंगे, क्या कर रहे होंगे? जिसने इन पुरुषोंका चारित्र सुना है, पढ़ा है, उनका चित्त यह कह देता होगा कि ऐसे ऋषिराजके समयमें यदि मैं होता तो उनके चरणोंकी धूल अपने शिरपर लगाकर अपने जीवनको सफल समझता। कभी अवसर पाकर किन्हीं-किन्हीं संतोंका चरित्र सुनायेंगे तब यह बात घटित हो जायगी हृदयमें कि यह बिल्कुल ही युक्त बात है कि उन गुरुवोंके समयमें यदि मैं होता तो सब कुछ भूलकर केवल उनकी सेवा करके अपने जन्मको कृतार्थ समझता। वे कुन्दकुन्द, समंतभद्र, अकलंक इत्यादि क्या अब हैं? अरे वे तो गुजर गए और मरण करके कहाँ पैदा हुए होंगे? अपनी रुचि और कल्पनाके अनुसार तो बतावो? देवगतिमें वे इस समय होंगे। क्या कर रहे होंगे? ठाठकी सभा लगी होगी, देव देवियाँ गान-तान कर रहे होंगे। बड़ी धूमधामसे संगीत हो रहा होगा। सभी देव शिर हिलाहिलाकर आनन्द ले रहे होंगे और ये कुन्दकुन्द, समंतभद्र, अकलंक इत्यादि जीव, जो अब बड़े देव हैं वे देव भी आनंद ले रहे होंगे, मगर भीतरमें क्या गुजर रही होगी? ज्ञानका प्रकाश होगा, सम्यक्त्वकी दृष्टि होगी और उससे हटना चाहनेकी बात मनमें सोच रहे होंगे। जबकि अन्य देवोंको उसमें लगनेमें मौज आ रहा होगा। अविरत सम्यग्दृष्टि देवगतिके जीव इतने भोगके साधनोंमें रहकर उससे उदास रहा करते हैं।

अन्तस्तपका प्रसाद—ज्ञानकी महिमा अनुपम है। हम आपका गुरु कहो, देव कहो, शास्त्र कहो; सर्वस्व, शरण, सार एक विशुद्धज्ञान है। उस सम्यग्ज्ञान ज्योतिको पाकर यह जीव कर्तृत्व और भोक्तृत्वके अधिकारको समाप्त कर देता है। वह अपने व्यवहारमें भी अकर्ता और अभोक्ताका अनुभव करता है। उनमें भली प्रकारसे प्रभुताकी शक्ति उत्पन्न हुई है, वह अब ज्ञानके मार्गसे ही अपनी चर्या बना रहे हैं। उनकी इस अंतःतपस्याके प्रसादसे शुक्लध्यानके प्रकट हुआ है और वे उस शुक्लध्यानके प्रसादसे मोक्ष नगरमें पहुंच जाते हैं। जहाँ कि विशुद्ध रागद्वेष रहित ऐसे ज्ञानानंदस्वरूप आत्मतत्त्वका ही आलम्बन हो रहा है, ऐसे अपवर्ग नगरको प्राप्त होते हैं। अपवर्गका अर्थ है जहां धर्म अर्थ काम ये तीन वर्ग नहीं होते

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं, अर्थात् सब झंझटोंसे, विकल्पोंसे मुक्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनन्त आनन्दमय अवस्था को वे प्राप्त होते हैं। देखो ना—जब यह जीव कर्मसंयुक्त था तो अपनी योग्यताका कैसा विपरीत विस्तार बनाया करता था और जब कर्मोंसे विमुक्त हुआ तो इसने अपने गुणोंका अमित विस्तार अर्थात् अमित विकास विलास प्रकट किया है। यह प्रभु सर्वथा शुद्ध हैं और शान्ति के इच्छुक जीवोंके लिए प्रतीक है। इस प्रकार यहाँ तक प्रभुताकी व्याख्यामें कर्मसंयुक्तके रूप से पहिली गाथामें और कर्मवियुक्तपनेके रूपसे इस गाथामें इस जीवकी महिमा बतायी गई है।

एको चेव महप्पा सो दुवियप्पोत्तिलक्खणो होदि।
चदुसंकमणो भणिदो पंचग्गगुणप्पधाणो य ॥७१॥

जीवकी एकरूपता—अब जीवके सम्बंधमें जीवकी ही विशेषताको प्रदर्शित करनेकी पद्धतिसे जीवके विकल्प कहे जा रहे हैं। यह जीव एक है, जैसे सब स्वर्णोंमें साधारणतया पाये जाने वाले स्वर्णत्व गुणकी दृष्टिसे सब स्वर्णराशि एक है, इस ही प्रकार सब जीवोंमें साधारण रूपसे पाये जाने वाले केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंके समूह रूप शुद्ध जीव जातिकी दृष्टिसे जीव एक है। जिन दार्शनिकोंने एक ब्रह्म माना है उनका अभिप्राय, उनकी दृष्टि मूलमें यह रही होगी जैसे कि स्याद्वादने संग्रहनयकी अपेक्षा सर्व साधारण गुणोंकी दृष्टिसे एक बताया है, फिर उस एककी घोषणाके बाद सर्व दृष्टियोंसे उसे एक माना जाने लगा।

दृष्टान्तपूर्वक जाति अपेक्षा जीवके एकत्वका कथन—जैसे यहाँ कोई मनुष्य एक है तो वह हर दृष्टिसे एक है, करने वाला वही है, भोगने वाला भी वही है, उतने ही हम हैं। जैसे सभी मनुष्य जातिअपेक्षा एक है, इसी प्रकार यह जीव ब्रह्म भी जातिअपेक्षा एक है। जब सर्वत्र एक माना जाने लगा तो अनेक आशंकायें उठने लगीं। फिर ये जीव भिन्न-भिन्न अपना-अपना परिणमन कैसे कर रहे हैं? यह ऐसी रचना विभिन्न कैसे हो गयी है? सबके अनुभव अपने-अपने जुदे क्यों हो रहे हैं? जो एक होता है अनुभव भी उस समय एकमें ही होता है। तब उसके उत्तर भी अनेक प्रकारसे खोजे जाने लगे। यदि संग्रहनयकी दृष्टिसे जीवको एक मान लिया जाय तो उसमें आपत्ति नहीं है।

दृष्टान्तपूर्वक जीवकी एकरूपताका समर्थन—कोई गेहूंका ढेर पड़ा है तो ग्राहक लोग आकर यों पूछते हैं कि यह गेहूं किस भाव दिया है? शायद कोई बहुवचनमें नहीं कहता कि इन गेहुंवोंको किस भायमें दिया है? हालांकि गेहूंके दाने करोड़ों रक्खे हैं, पर उन्हें एकवचन में बोला जाता है, ऐसा क्यों है कि प्रयोजनकी दृष्टिसे, संग्रहनयकी दृष्टिसे, रूप रंगकी दृष्टिसे वे एक समान हैं। इस कारण उनको कहनेमें एकवचनका प्रयोग होता है। ऐसे ही समस्त जीवों का जो समूह है वह स्वरूपदृष्टिसे एक है, और जो कुछ भी चमत्कार है, ढंग है, पद्धति है वह सब एक है। इस कारण समस्त जीवोंको कह देना कोई अनुचित नहीं है, पर संग्रहनयकी दृष्टि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

त्यागकर व्यक्तिगत मान लिया जाय तो वहाँ आपत्ति आती है। सर्वथा एक ब्रह्म मान लेनेपर व्यवस्था बनानेके लिए अनन्त जीव मानने पड़ेंगे। इस स्थितिमें जीवका मूल्य कुछ नहीं है। यह जीव इस ब्रह्मके सम्बंधसे चमक रहा है। यह जीव जब ब्रह्ममें लय हो जायगा तो इसको मुक्ति हो जायगी। इस तरहसे कोई भाई जीवको मान पड़े हैं।

स्वभावदृष्टिसे परमब्रह्मका एकत्व—ब्रह्म एक वह है चित्स्वभाव। ऐसा माननेके लिए भी जिनशासनके स्याद्वादसे इस पद्धतिसे प्रेरणा मिली है कि यह जीव स्वभावदृष्टिसे एक निर्विकल्प चैतन्यस्वभाव है। वह तो हुआ ब्रह्म, क्योंकि स्वभावमात्रपर दृष्टि देनेसे व्यक्तियोंका भेद उपयोगमें नहीं रहता। जैसे पीनेमें आने वाला जल। जल और जलका स्वभाव जब आप पीनेके प्रयोजनसे जलपर दृष्टि देंगे तो आपको वहाँ भिन्न-भिन्नपना नजर आयगा। यह पानी खारा है, यह मीठा है। तुम पानी कम लाये हो, तुम पानी बहुत लाये हो। यदि जलके स्वभावमें दृष्टि जाय तो स्वभाव नजर आयगा, व्यक्तियाँ नहीं। इसी प्रकार सब जीवोंके स्वभाव पर दृष्टि दी गई तो वहाँ एक अखंड निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यस्वभाव दृष्टिमें आया वह दार्शनिकोंका परमब्रह्म है, जैनसिद्धान्तमें भी उसे परमब्रह्म कहा है। अब इस आत्मामें जिससे व्यवहार होता है ऐसी जो परिणतियाँ हैं उन परिणतियोंका प्रतिनिधि माना गया जीव। जिसे आत्मद्रव्य और आत्मपर्याय कहा गया है, उसे ही वहाँ परमब्रह्म और जीव कहा गया है। इन सब जीवोंको एक सर्व साधारण स्वभावदृष्टिसे देखा जाय तो वह एक है महान आत्मा। यह आत्मा ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोगसे उपयुक्त है। सर्व जीवोंमें देख लो ज्ञातृत्वशक्ति और दृष्टृत्वशक्ति सबमें शाश्वत पड़ी हुई है। जिसको एक चैतन्यस्वभावसे कहा जाता है वह सर्व साधारण है, अतः जीव एक है।

सर्वथा एक जीवकी असिद्धि—जो लोग सर्वथा जीवको एक मानते हैं उनको इस विषयमें ऐसी आशंका रखनेपर कि फिर ये भिन्न-भिन्न क्यों नजर आते हैं? उनकी ओरसे उत्तर यह होता है कि जैसे एक ही चन्द्रमा भिन्न-भिन्न पात्रोंमें, भिन्न-भिन्न थालियोंमें जिनमें पानी भरा हुआ है नाना चन्द्र नजर आते हैं। वास्तवमें चन्द्रमा एक है, लेकिन उस उपाधिमें चंद्रमा अनेक नजर आया करते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म तो एक है, जीव तो एक है, पर भिन्न-भिन्न देहोंमें भिन्न-भिन्न घरोंमें इस जीवका प्रकाश पहुंचनेसे वह भिन्न-भिन्न जीव नजर आता है। सुननेमें तो बड़ा भला लगता है। चन्द्र एक है और पचासों थालियोंमें पानी भरा है तो पचासों चन्द्रमा नजर आ रहे हैं, ऐसे ही जीव एक है और ये असंख्यात देह हैं ना, इन देहोंमें उतने ही जीव नजर आ रहे हैं। लेकिन यह बात तभी तक सुन्दर लगती है जब तक इसपर गम्भीरतासे विचार न किया जाय। पचासों थालियोंमें पचासों चन्द्रमा नजर नहीं आ रहे, किन्तु एक चन्द्रबिम्बका निमित्त पाकर पचासों थालोंका पानी अपने आपमें चन्द्रबिम्बके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आकाररूपसे परिणत हो गया है। उन पचासों थालियोंमें उन पचासोंका पानी नजर आ रहा है और वह पानी चन्द्रका निमित्त पाकर उसके अनुकूल आकाररूप परिणम गया है, पानीमें ऐसी योग्यता है। कहीं गोबरके पचासों उपला रक्खे हों तो उनमें चन्द्रबिम्ब क्यों नहीं दीखता ? अरे उनमें ऐसी योग्यता ही नहीं है। पानीमें वैसी योग्यता है जिससे योग्य वातावरण पाकर उस रूप परिणाम जाय, तो वहाँ एक ही चन्द्रमा भिन्न-भिन्न नजर नहीं आ रहा है। आकाशमें रहने वाला चन्द्रमा वही एक है, यहाँ दृष्टिमें नहीं आता।

जीवके एकत्वकी सिद्धिमें दृष्टान्तकी विरुद्धता—इसे स्पष्ट समझने के लिए एक और दृष्टि डालो। जैसे किसी पुरुषके सामने १० दर्पण रखे हुए हैं सामने अगल बगल, तो उन दसों दर्पणोंमें उस पुरुषका मुख पहुंच रहा है, लोग ऐसा कहते हैं। क्या वास्तवमें दसों दर्पणोंमें उस पुरुषका मुख नजर आ रहा है ? नहीं। उस पुरुषके मुखका सन्निधान पाकर वे दसों दर्पण उस मुखके आकार रूपसे परिणम गए हैं। पुरुषका मुख नाना रूपसे नहीं बन गया है। उन दसों दर्पणोंमें उस पुरुषका मुख नहीं पहुंच गया। अगर उस पुरुषका मुख उन दर्पणोंमें पहुंच जायगा तो वे दर्पण चेतन बन जायेंगे। उस पुरुषका मुख उन दर्पणोंमें नहीं गया, उसका मुख उसही पुरुषमें है। उसके मुखसे बाहर उसका मुख नहीं जाता, फिर भी उस मुखका सन्निधान पाकर दसों दर्पण उस मुखाकाररूपसे परिणम गए हैं। ऐसे ही चन्द्रमा पानी रूप नहीं परिणमा, किन्तु पानी उन पचासों थालियोंका पानी चन्द्रमाका सन्निधान पाकर चन्द्रबिम्बरूप परिणमं गया है।

संग्रहनयसे ही जीवके एकत्वकी सिद्धि—दूसरा कोई इस प्रकार एक ब्रह्म तुम्हें कहीं दिखता है प्रत्यक्ष जो नानारूप परिणम जाय ? अपने अनुभवसे विचारो। अपने आपमें कोई चेतनाशक्ति वाला जीव तत्त्व अनुभवमें आता है, ऐसे-ऐसे ये सभी जीव एक-एक अलग-अलग हैं। सबका अनुभव उनका अपने आपके खुदमें है, फिर भी एक स्वभावदृष्टिसे संग्रहनयकी दृष्टिसे जब निरखते हैं तो समस्त जीवोंमें पूर्ण समानता पायी जाती है उनके स्वरूपमें। इस कारण संग्रहनयसे जीव एक है।

जीवकी द्विप्रकारता—यह आत्मा दो प्रकारका है। इस विकल्पके प्रकरणमें इस ढंग से वर्णन होगा कि जीव दो प्रकार हैं, तीन प्रकार हैं, चार प्रकार हैं आदिक। कुछ विकल्पों तक वर्णन चलेगा। यहाँ बतला रहे हैं कि जीव दो प्रकारके होते हैं—एक भव्य और एक अभव्य। अरे इसमें अभी सिद्ध तो नहीं आये। वे तो हैं अनुभय। जीव दो प्रकारके हैं—भव्य और अभव्य, तो मुक्त जीवोंमें भूतप्रज्ञापन नैगमनयकी अपेक्षा भव्यत्व स्वीकार करना होगा, यों ये जीव भव्य अभव्यके प्रकारसे दो तरहके हैं। अथवा संसारी और मुक्तके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। अथवा जीवका जीवत्व दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके भेदसे दो प्रकार दृष्ट

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होता है। यहां व्यक्तित्वकी दृष्टि त्याग दी गई है और उस जीवमें ही जीवके भावकी दृष्टिसे यह विविधता बताई गयी है।

जीवकी त्रिलक्षणात्मकता—यह जीव त्रिलक्षणात्मक है। एक साधारण दृष्टिमें तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणात्मकता पायी जानेसे समस्त पदार्थ इस त्रिलक्षणात्मकतासे युक्त हैं, जीव भी उत्पन्न होता है, विलीन होता है और वहीका वही रहता है। इसमें तो सभी पदार्थों की बात आ गई। जीवकी विशेषता क्या आई ? तो चलो, जीव यों विलक्षण है, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतनासे संयुक्त है। कोई जीव कर्मचेतनासे तन्मय है अर्थात् मैं अमुक काम करूँ, ज्ञानातिरिक्त किसी भी भावके पदार्थके सम्बंधसे करनेकी बुद्धि होनेका नाम कर्मचेतना है और उस कर्मके फलमें जो सुख दुःख होता है उस फलको मैं भोगता हूं अथवा अन्य परपदार्थोंको भोगता हूं। ऐसी बुद्धिका होना कर्मफलचेतना है, और मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूं, जाननमात्र हूं, इस प्रकार जाननस्वरूपमें ही अपनी प्रतीति और अनुभव करना सो ज्ञानचेतना है। यों कोई जीव कर्मचेतनाप्रधानी है, कोई कर्मफलचेतनाप्रधानी है, कोई ज्ञानचेतनाप्रधानी है, कोई केवल ज्ञानमात्र है। यह तो भिन्न-भिन्न जीवोंकी बात हो गयी।

एक जीवमें चेतनात्रिलक्षणात्मकता—कोई बन्धु पूछे कि एक ही जीवमें तीनों बातें घटा दो तब तो उस जीवकी त्रिलक्षणता समझमें आये। चलो एक जीवमें घटावो। जैसे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान होता है उस गुणस्थानमें रहने वाला जीव अपनेको ज्ञानमात्र ही श्रद्धान करता है, तब ज्ञानचेतना हुई कि नहीं ? यह प्रधान है और गौणरूपसे यह जीव घर गृहस्थीमें है, अनेक कामोंमें लग रहा है, उसमें भी उपयोग कभी-कभी चल रहा है ना तो लो कर्मचेतना हो गई, और उसके फलमें कभी हर्ष भी हो, कभी विषाद भी हो लो कर्मफलचेतना हो गई।

अज्ञानी जीवकी त्रिलक्षणात्मकता—कोई यहाँ हठ करे कि नहीं जी, तुमने एक खास अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानको पकड़ लिया, हमें तो ऐसी बात बतावो कि मिथ्यादृष्टिके भी तीनों चेतना घट जायें और सिद्ध भगवानमें भी तीनों चेतना घट जायें। अच्छा लो, इसको भी सुनो। पहिले अज्ञानी जीवोंकी बात देखो, प्रत्येक जीव ज्ञानस्वरूप है ना, वह चाहे अपनेको कुछ भी माने, पर उस माननेमें जो चेतनाएँ आती हैं, जोश आता है वह ज्ञानस्वरूप है तब ही आता है ना ? तो उन्होंने इस ज्ञानस्वरूपको ही तो किसी रूपमें चेता, वह चेतना तो इस ज्ञानस्वरूपकी है। है ना, क्या वह कभी रूप, रस, गंध, स्पर्शको भी चेत लेता है, लो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना स्पष्ट ही है। चलो कुछ तान-तूनकर तीनों बातें यहाँ भी घट गयीं। अच्छा सिद्ध भगवानमें बतावो। सिद्ध भगवानकी त्रिलक्षणता सुनो।

सिद्ध भगवंतमें चेतनात्रिलक्षणात्मकता—ज्ञानचेतना तो भगवानमें स्पष्ट है। यह प्रभु अपनेको ज्ञानरूप चेत रहे हैं, परिणम रहे हैं, ठीक है, ज्ञानरूप चेत रहे हैं ना, कुछ काम कर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहे हैं ना ? हाँ कर रहे हैं । अपनेको निरन्तर ज्ञानरूप अनुभव रहे हैं । यही उनका काम है ना ? इस कामरूप वे परिणम रहे हैं ना, तो यही कर्मचेतना हो गई, और इस कामका फल भी उन्हें मिल रहा है कि नहीं ? केवल ज्ञाताद्रष्टा हैं तो ऐसे केवल ज्ञानमात्र रहनेके कार्यका उन्हें फल मिल रहा है, अनन्त आनन्द । उस अनन्त आनन्दको भोग रहे हैं ना, यही सिद्धका कर्मफल है तो उसे भी चेत रहे हैं । दो तीन बातें समझनेके प्रसंगमें कर्मका अर्थ ज्ञानावरण आदिक न लेना, किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपनी क्रियामें रहा करता है । तो सिद्ध भगवानकी जो क्रिया है, कर्म है, वह कर्म है और उसके फलमें जो फल मिलता है वह कर्मफल है ।

विशुद्धाशयीका ज्ञानविहार—जैसे एक ही लक्ष्य रखने वाला पुरुष घरमें पचासों जगह की व्यवस्था कर लेता है और अपने लक्ष्यसे चूका नहीं इसकी उसे प्रसन्नता रहती है । ऐसे ही मोक्षमार्गका लक्ष्य रखने वाला ज्ञानी पुरुष इन समस्त तत्त्वोंको नाना रूपोंसे जान रहा है, फिर भी यह अपने लक्ष्यमें सफल बना रहनेसे प्रसन्न रहता है, और कोई भक्त पुरुष भगवान की भक्ति करता है, उसमें सिद्ध भगवानका प्रेम है तो कभी भगवानकी बड़ी प्रशंसा करके भक्ति करता है, कभी-कभी भगवानमें जब तीव्र भक्ति पहुंचती है, उनके गुणोंके विलासकी दृष्टि पहुंचती है तो कभी-कभी तो यों भी कह देता है कि क्या हुआ केवलज्ञान हो गया तो, वह तो तुम्हारा स्वभाव ही है, कौनसी इसमें वीरता हो गयी ? अरे स्वरूप वही है, जो था सो प्रकट हो गया, लो अभी तो बड़ा पुरुषार्थ बतला रहे थे और अब यों कहने लगे । अरे उसके यों कहनेमें भी पुरुषार्थकी प्रशंसा भरी हुई है ।

भक्तिपद्धतियां व ज्ञानविहारपद्धतियां—कभी तो यह भक्त दीनता भरे शब्दोंमें कहता है—नाथ ! बतावो, विकारोंसे हटावो, मुझे इस अविकारके मार्गसे ही बढ़कर खींच लो अपनी ओर । मुझे अब इस संसारमें नहीं रहना है, कभी तो ऐसा दास बनकर प्रभुकी पुकार करता है और कभी झुंझलाकर कहता कि प्रभु तुम्हारी भक्तिमें यदि कोई उन्नति नहीं जगती है, मेरा ठीक ठिकाना नहीं लगता है तो नाथ ! इसमें क्या मेरी ही बदनामी है, तुम्हारी नहीं है ? लोग कहेंगे ना कि ये कैसे प्रभु हैं जो एक निष्कपट भक्तको अपनेमें समा नहीं सकते । परमात्माकी भक्तिके पचासों तरीके बना डाले, पर यहाँ दास उन सब तरीकोंमें मूल लक्ष्यको न छोड़नेसे शान्त रहता है, प्रसन्न रहता है । कभी प्रभुसे झुंझलाकर बोलनेके बाद भी यह पछतावा नहीं करता कि मैंने भगवानको बहुत भला बुरा कह डाला । अरे बुरा सुनाया कहाँ है, वह तो सब भक्तिके रूपमें था । यों ही तत्त्वज्ञानी पुरुष तत्त्वके सम्बंधमें नाना पद्धतियोंसे सोचता है, चिन्तन करता है और उसमें वह प्रसन्न रहता है ।

अन्य प्रकारसे जीवकी त्रिलक्षणात्मकता—यह जीव चेतनाके प्रकारमें त्रिलक्षण वाला है अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र इन तीनों रूप होनेके कारण यह आत्मा तीन लक्षण वाला है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अथवा द्रव्य, गुण, पर्याय तीन रूपोंमें यह विदित होता है, अतएव त्रिलक्षणात्मक है। है जीव एक वही, पर जिसका जीवस्वरूपके परिचयपर अधिकार हो गया है वह इस जीवको नाना प्रकारसे त्रिलक्षण रूपमें देख रहा है। यह आत्मा त्रिलक्षणस्वरूप है। अब इसके बादमें ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० के रूपमें भी वर्णन चलेगा।

ये जीव चार संक्रमण वाले हैं। संक्रमण, परिभ्रमण परिवर्तन—ये सब प्रायः अनर्थान्तर हैं। यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चयनयसे निर्विकार ज्ञानानन्द स्वरूप सहज सिद्ध है और सिद्धगतिके स्वभाव वाला है, फिर भी व्यवहारनयसे मिथ्यात्व, अविरत, कषायसे परिणमता हुआ यह जीव चार गतियोंमें परिभ्रमण करता है। यह चार गतियोंका भ्रमण इस जीवका स्वभाव नहीं है। इसका स्वभाव तो ऊर्द्धगति है। जैसे अग्निकी शिखा स्वभावतः ऊपर ही चलती है इस ही प्रकार इस जीवकी विशुद्धगति ऊपरकी ओर ही होती है। वह कहीं तक हो, जहां तक निमित्तका सद्भाव है वहां तक ही सही, किन्तु स्वभाव है ऊर्द्धगतिका। इस जीवका चारों गतियोंमें भटकना उपाधिके सम्बन्धसे हो रहा है और अपने आपमें अपने स्वरूप की सुध न होनेसे किन्हीं बाह्यमें उपयोग रखनेके कारण हो रहा है। यह जीव चार संक्रमण वाला है व्यवहार दृष्टिसे संसार अवस्थामें।

इस जीवमें ५ मुख्य गुण प्रधान हैं। उन ५ गुणोंमें दो गुण इसके स्वभावरूपसे हैं क्षायिक और पारिणामिक। क्षायिक शब्दमें उपाधिके सम्बन्धसे क्षायिकताका व्यपदेश नैमित्तिकरूपसे माना गया है, किन्तु क्षायिक भावमें जो निर्मलता जगती है वह निर्मलता नैमित्तिक नहीं है, वह जीवके स्वभावसे उठी हुई है। और पारिणामिक तो स्वयं स्वभावरूप है ही। इन दोनों भावोंमें भी द्रव्यदृष्टिसे पारिणामिक भाव और पर्यायदृष्टिसे क्षायिक भाव ये दोनों स्वभावोंसे सम्बन्ध रखने वाले भाव हैं। संसार अवस्थामें यह जीव ५ भावोंसे लिपटा है।

क्या कोई जीव ऐसा भी होता है जिसमें एक भवमें ये ५ भाव हो जाते हों—औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ? होता है, सुनिये। क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करके जो जीव उपशम श्रेणीपर चढ़ा है उसके देखो सम्यक्त्वकी दृष्टिसे क्षायिक भाव है, चारित्रकी दृष्टिसे औपशमिक, कर्मोंका उदय चल रहा, सो औदयिक, ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ज्ञान चल रहा है इसलिये क्षायोपशमिक भाव है और पारिणामिक सब जीवोंमें रहता ही है। कोई जीव ऐसे होते हैं जिनमें चार भाव होते हैं। जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव जो किसी भी श्रेणीपर नहीं चढ़ा उसके औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये चार भाव हैं। क्षपक श्रेणीमें रहने वाला जीव है उसके चार भाव हैं—द्वितीयोपशम सम्यक्त्व करके उपशम श्रेणीपर चढ़ना हो जावे उसके चार भाव हैं और तीन भावोंसे भरे हुए तो अनन्तानन्त जीव हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी इनके औदयिक भाव, क्षायोपशमिक भाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और पारिणामिक भाव सबके बराबर बने हुए हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान, कुमति, कुश्रुत कुअवधि ये सब क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। अज्ञानियोंके कुज्ञान होते हैं। सिद्ध भगवानके दो भाव हैं—क्षायिक और पारिणामिक। जीवके स्वभावको देखो तो एक भाव है पारिणामिक भाव। यों यह जीव ५ भावोंसे युक्त है।

छक्कापक्कमजुत्तो उवजुत्तो सत्तभङ्गसब्भावो।
अट्ठासओ णवत्थो जीवो दसट्ठाणगो भणिदो ॥७२॥

संसार अवस्थामें यह जीव ६ अपक्रमोंसे युक्त है। अपक्रम कहते हैं विरुद्धक्रमरहित गतिको, मरणके बाद जन्मस्थानपर पहुंचनेकी गतिकी जो विधि है उसको। जैसे हम आप यहां गोलमटोल चल लेते हैं। पूरबसे उत्तरकी ओर चल दें, जहां चाहे जैसी गति कर लेते हैं। मरणके बाद इस जीवकी गति यथा तथा नहीं हो सकती। यदि पूर्व दिशामें मरे हुए जीवका उत्तर दिशामें जन्म होना है तो वह यों ही सीधा नहीं चल सकता। पश्चिम दिशाकी ओर बढ़कर मोड़ा लेकर उत्तरमें जायगा। मरणके बाद जीवकी गति आकाश पंक्तिकी श्रेणीके अनुसार होती है। इस महा आकाशमें एक एक सूची रूप केवल एक प्रदेशकी मोटाई रखती हुई असंख्यात श्रेणियाँ हैं। पूरबसे पश्चिमको, दक्षिणसे उत्तरको, ऊपरसे नीचे ऐसी तीन श्रेणियां हैं और दो छोर होनेके कारण ६ अपक्रम हो जाते हैं। यह संसारी जीव ६ अपक्रमोंसे सहित है। यहां यह जीवके सम्बन्धका व्याख्यान समाप्त होनेको है ना, उपसंहार रूपसे ये तीन गाथाएँ हैं अन्तमें, जिनमें दूसरी गाथामें यह वर्णन चल रहा है कि जीवके ऐसे ऐसे विकल्प हैं, उस क्रममें जीव यों ६ विकल्पोंके रूपसे भी निरखा जा रहा है।

यह जीव ७ भंग सहित है। देखिये कुछ भी बात हो—एक तो वह बात और एक खिलाफ बात। प्रत्येक पदार्थ अपनी खिलाफियतको लिए हुए हैं। कोई चीज "है" तो उसमें "नहीं है" यह भी मौजूद है, वह चीज है, याने वह अपने स्वरूपसे है तो परके स्वरूपसे नहीं है यह भी साथ लगा है। कुछ भी आप बात कहें तो उस बातमें एक प्रतिपक्ष लगा हुआ है। क्यों जी आपकी बात सच है ना। हाँ सच है। तो आपकी बात झूठ नहीं है यह है कि नहीं? हाँ यह भी है। सत्यका सद्भाव असत्यके निषेधके, साथ जुड़ा हुआ है, यदि झूठ नहीं है ऐसा नहीं है तो सच ही क्या रहा? तो यों दो अंग हो गए। दोनोंको एक साथ बतानेका कोई वचन नहीं है। प्रमाणसे भले ही देखा जाय पर वहाँ लक्षण इसके अलग हैं। इन दोनों को एक साथ न कहा जा सकनेसे अवक्तव्य है, यों तीन धर्म हो गए। जहाँ तीन धर्म होते हैं तो उनका संयोग किया जाय तो चार प्रकारके संयोग हो जाते हैं, दो दो के तीन संयोग और तीनोंका एक। अस्ति, अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति नास्ति और तीनोंसे मिलकर अस्ति-नास्ति अवक्तव्य यों सप्तभंगकर सहित यह जीव है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यह जीव पदार्थ अष्टास्रव है, संसार अवस्थामें ८ कर्मोंका आस्रव वाला है। मुक्त अवस्थामें ८ गुणोंका आस्रव करने वाला है। निश्चयसे यह जीव वीतरागस्वरूप निश्चय सम्यक्त्व आदिक ८ गुणोंका आश्रयभूत है—समकित, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहना, सूक्ष्मत्व, वीर्यत्व और अव्याबाधत्व। इस प्रकार ८ गुणोंका आश्रयभूत है तो भी संसार अवस्थामें देखो व्यवहारदृष्टि से तो इसमें ज्ञानावर्णादिक आठ कर्मोंका आस्रव बना हुआ है। इस प्रकरणमें ये एक जीवके बारेमें वर्णनके अन्तकी आखिरी चर्चायें हैं। जैसे कोई बड़ी गम्भीर समस्याको हल करनेके लिए एक बड़ा समूह जोड़े, तो पहिले प्रयोजनभूत मुख्य-मुख्य बातोंका वर्णन करके जब अन्तमें वह सभा उठनेको होती है तो थोड़ा सुगम दिलचस्प वातावरण ले करके समूह उठा करता है। ऐसे ही इस जीवतत्वके सम्बन्धमें मुख्य बातोंका वर्णन करके अब कुछ विकल्पोंके रूपसे इसका उपसंहार किया जा रहा है।

प्रश्न—भला इतना कहनेकी कोई खास जरूरत थी क्या कि जीव क्रमसे एक भाव वाले, दो भाव वाले, ३ भाव वाले आदि हैं और जरूरत थी तो १० ही तक क्यों रहे, आगे क्यों नहीं बढ़े? तो इस वर्णनमें दोनों प्रयोजन हैं। एक तो जीवके कुछ विकल्प बताकर यह यत्न किया है कि जीवके सम्बन्धमें कुछ और और प्रकट ज्ञान भी हो जाय और फिर मुख्य वर्णन करके एक वर्णन समाप्तिके पहिले चूलिका रूपमें वर्णन हुआ। चूलिका उसे कहते हैं कि पहिले कही हुई बातको भी कहना, पहिले न कही हुई बातको भी कहना और कुछ समन्वय मिलाकर उसका आखिरी कोई रूप बना देना, इसका नाम चूलिका है। यह जीव ८ गुणोंका आश्रयभूत है अथवा ८ कर्मोंके आस्रवका आश्रयभूत है।

यह जीव नौ अर्थरूप है, ६ पदार्थ रूप है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप—ये ६ प्रकारके पदार्थ बताये गए हैं। इन ६ अर्थोंरूप जीवको देखना है। यद्यपि यह नवार्थता उपाधिके सम्बन्ध बिना नहीं हुआ करती है। जिस जीवने आस्रव किया, क्या अकेला ही जीव अपने आपमें अपने विभावोंका आस्रव कर लेता है? नहीं। कर ले तो आस्रव स्वभाव बन जायगा। यद्यपि इस नवार्थतामें पर-उपाधि निमित्त होती है, फिर भी पदार्थका यह स्वभाव अमिट है कि प्रत्येक पदार्थ केवल अपने आपमें अपनी ही शक्ति से अपना परिणमन किया करते हैं। सर्वत्र निहार लो। इस दृष्टिसे जीवमें आस्रवादिको देखिये।

जैसे आप दर्पणको देख रहे हो और उस दर्पणमें अपने पीछे खड़े हुए कुछ बालक भी नजर आ रहे हैं, किन्तु उन बालकोंका सान्निध्य पाकर जो दर्पणके प्रदेश थे वे बालकोंके आकाररूप परिणम गए। वह प्रतिबिम्ब उन बालकोंका सन्निधान पाए बिना नहीं हुआ। लेकिन क्या यह जरूरी है कि हम उन बालकोंका ख्याल निरन्तर बनाये रखते हुए दर्पणको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

देखें ? हमें तो उन बालकों की ओर दृष्टि भी नहीं करना है, केवल दर्पण देखना है, ऐसा यत्न करें तो वह दर्पण वैसा ही दिखेगा जैसा कि प्रतिबिम्बित है। यद्यपि यह बात मानी हुई है कि बालकोंका सन्निधान पाये बिना वह दर्पण प्रतिबिम्बित नहीं हुआ पर देखनेको तो आबादी है। हम केवल दर्पणको ही निहारें तो वहाँ यह जानते रहेंगे कि यह दर्पण देखो ऐसा ऐसा है, ऐसा क्यों हुआ है, इस ओर हम विचार न लाना चाहें यह हमारी मर्जी है। यह है एक निश्चयदृष्टि। हम दूसरी उपाधिका सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहते हैं। केवल एक ही वस्तुमें उस ही वस्तुकी बात निहारनेका नाम निश्चय है। निर् मायने निकल गया चय मायने संचय जिस दृष्टिसे उस दृष्टिका नाम है निश्चय।

जीवमें विभावोंका उदय हो रहा है, आस्रव हो रहा है। आस्रव मायने आना, उदय मायने निकलना। जीवमें विभावोंका उदय हो रहा है, उदय निकल रहा है, ये जीवके स्वभावके ऊपरी स्थलपर विभाव आ रहे हैं और इस स्वभावके ऊपरी भागपर ये विभाव बँध रहे हैं। ऊपरी भावका अर्थ यह न लेना कि जैसे एक चीज समूची नीचे पड़ी है और उसके ऊपर कोई चीज रक्खी है, यह तो जितने प्रदेशोंमें स्वभाव है उतने ही प्रदेशोंमें विभाव है। यहाँ ऊपरका अर्थ भावात्मक लेना है अर्थात् जीवके अन्तः स्वभावमें विभाव नहीं पड़ा है, किन्तु वह एक परिणमनके रूपमें आया है। यह जीवका आस्रव है।

देखो जीवमें विभावोंका आना यह आस्रव हुआ, जीवमें विभावोंका बांधना सो बंध है। जीवने अपने उपयोगमें उन विभावोंको बाँध रक्खा है। उसे यह उपयोग हटाना नहीं चाहता। यही बंध हुआ। देखो यहाँ एक अचरजकी बात कि जीवमें जो विभाव उत्पन्न होते हैं वे दूसरे क्षण नहीं रहते हैं। दूसरे क्षण अन्य विभाव हुआ, तीसरे क्षण अन्य विभाव हुआ, ये विभाव क्षण-क्षणमें नाना हुआ करते हैं, लेकिन यह उपयोग यही समझ रहा है कि हम उसी विभावको पकड़े हैं, वही सर्वस्व है, उन्हीं विकारोंको यह भ्रान्त उपयोगमें पकड़े हुए है। उपयोग विभावोंको कहाँ पकड़ सकता है ? विभाव तो एक क्षण हुआ, दूसरे क्षण मिट गया, पर उपयोग तो जिसे जान रहा है उस जाननके अनुसार तो उन सबको पकड़े हुए है मानो अथवा उस विभाव सामान्यको यह जकड़े हुए है ना, यही उसका एक बंध है।

जब यह जीव भेदविज्ञानी होता है और इस विविक्त स्वरूपका परिचय पाता है तब यह जानता है। ये विभाव मेरे नहीं हैं, स्वभाव नहीं हैं, औपशमिक भाव हैं। उन औपाधिक भावोंसे अपने स्वरूपको न्यारा कर लिया है। कैसे न्यारा किया ? न्यारा किस जगह करें ? वहाँ इसको कुछ अलग जगह ही नहीं है आत्मामें कि एक ओर विभाव धर दो और एक ओर स्वभाव धर दो। इस न्यारेपनमें भी वहींका वहीं स्वभाव है। लक्षणकी दृष्टिसे वहाँ विभावोंसे आस्रवको जुदा निरखा जा रहा है। इस भेदविज्ञानसे लो अब ये विभाव किल गए,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वभावमें नहीं घुस सके। उपयोगकी विचित्र महिमा है। हम आप लोगोंकी विजय भी एक इस सम्यग्ज्ञान उपयोगसे ही हो सकती है। तो यह संवर हो गया। ऐसा सम्वर करनेके कारण अब वे विभाव कहाँ रहेंगे मायाकी छाया पाये बिना? इन विभावोंसे कोई प्यार करने वाला नहीं रहा। तो ये विभाव जब सूखने लगते हैं, झड़ने लगते हैं तो यही है जीवमें निर्जरा पदार्थ, और जब यह जोव उन विभावोंसे मुक्त होकर केवल एक निजमात्र रह जाता है तो यही है जीवका मोक्ष। पुण्य पाप तो आस्रवके भेद हैं। जो विभाव आये थे उनमें जो साता सुखके कारणभूत हैं वे पुण्यभाव हैं और जो असाता क्लेशके कारणभूत हैं वे पापभाव हैं। इस प्रकार जीवमें ९ पदार्थोंकी व्यवस्था है। इस पदार्थ व्यवस्थाको हम निश्चयदृष्टिसे देखते हैं तो हेय तत्त्व इस जीवके साथ नहीं रह सकते। और यही आत्माका एक कल्याण है। यह जीव १० स्थानक है। संसार अवस्थामें इसके १० स्थान ऐसे बन जाते हैं जिसमें कोई जीव न छूटे और वह हो शरीरकी दृष्टिसे तो वे १० स्थान यों बनते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येकवनस्पति, साधारणवनस्पति, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। ये सब काय हैं और उन कायोंमें एक दूसरेसे विशेषता है। शरीरकी विशेषतावोंसे संसारी जीवके १० स्थान ये बताये हैं। पृथ्वीका जो शरीर है वह इन ९ से अलग जातिको लिए हुए है, जलका शरीर इन ९ से जुदा जातिको लिए हुए है। इसी प्रकार यह होते-होते १० अथवा ९ से कुछ विभिन्न रूपको लिए हुए है। यह जीव यों १० स्थानों वाला है। निश्चयसे देखा जाय तो इसमें ये १० स्थान नहीं हैं, एक शुद्ध बुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र है। अखण्ड अद्वैत चित्प्रकाशात्मक स्वभाव ही ऐसा है कि क्या करे क्या? यह जानना बनाता नहीं है, यह ज्ञान करता नहीं है, किन्तु यह ऐसे ही स्वभाव वाला है कि इसका जाननपरिणमन चलता रहता है। यह जीव निश्चयसे शुद्ध एक ज्ञानानन्दस्वरूप है, लेकिन व्यवहारसे देखो तो यह इन १० स्थानोंमें प्राप्त है। अब इन १० स्थानोंके विकल्प बढ़ा-बढ़ाकर कितने ही भावो, बढ़ाते जावो, सैंकड़ों जीवसमास बन जाते हैं। ये सब दस स्थान बताये गए हैं। एक दो तीन इत्यादि कहा करे, पर इन सबमें जीव तो वह एक अकेला ही है। जैसे कोई राजा बड़ी सजी-धजी सेनाके साथ किसी अन्य स्थानपर पयान कर रहा है तो लोग यह कहते हैं कि आज राजा तो दो मीलमें फैल कर रहा है। अरे राजा तो साढ़े तीन हाथका होगा, पर उस राजाके सम्बंधसे जो कुछ ठाट-बाट होता है वह भी राजाका कहलाने लगा और यह राजा अब दो मीलका लम्बा-चौड़ा बन गया। ऐसे ही यह जीव तो केवल एक चैतन्यस्वभावरूप है, किन्तु इस जीवका सम्बंध पाकर जो इतना संसारजाल बन गया है तो यह जीव अब उतने विकल्पोंरूप कहलाने लगा है। जीव तो एक चैतन्यस्वरूप है। अब इसके बाद इस अधिकार की अन्तिम गाथा आयगी।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पयडिट्ठिदिग्रगुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को ।
उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति ॥७३॥

बन्धमुक्त जीवकी गति—यह जीव प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेश-बंधोंसे सर्वप्रकार मुक्त होकर ऊर्द्धको जाता है। न किसी दिशावोंमें जाता है और न विदिशावोंमें जाता है। जो जीव जिस स्थानसे मुक्त होता है उसके ही ठीक सीधमें लोकके अंत तक चला जाता है। सिद्धलोक ४५ लाख योजन प्रमाण है और जिस स्थानसे जीव मोक्ष जा सकता है वह स्थान भी ४५ लाख योजन प्रमाण है। ढाई द्वीपका प्रमाण ४५ लाख योजन है। इससे बाहर मनुष्योंका गमन नहीं है। किसी भी प्रकार मनुष्य ढाई द्वीपसे बाहर नहीं जा सकता। कोई देव मनुष्यको ले जायें तो भी मनुष्य ढाई द्वीपसे बाहर नहीं जा सकता।

ढाई द्वीपके सर्वप्रदेशोंसे मुक्त होना—इस ढाई द्वीपमें कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं बचा जिस प्रदेशसे अनेक जीव मोक्ष न गए हों। लवणसमुद्र, कालोदसमुद्र बड़े विस्तार वाले समुद्र हैं वहाँसे भी जीव मोक्ष गए हैं। किसी बैरी देवने उन्हें वहाँ पटक दिया हो और उस ही समय उनके शुक्लध्यान बना, घातियाकर्मोंका क्षय हुआ और वहींसे सिद्ध हो गए। यों समुद्र में भी प्रत्येक प्रदेशसे यह जीव मोक्ष गया है। पर्वतोंसे भी यह जीव मोक्ष गया है। हाँ मेरू पर्वतके ऊपर घटती हुई चूलिका बनी है ना, तो शंका यह हो सकती है कि उस मेरू पर्वतके ऊपरी भागसे चूलिकासे मोक्ष कैसे गए होंगे? उसके ऊपर तो टहरने योग्य स्थान ही नहीं है। उस चूलिकाके ऊपर सिर्फ एक बालकी मोटाई बराबर हिस्सा अन्तरमें है और उसके ऊपर इन्द्रक विमान है प्रथम स्वर्गका तब इस जगहसे मुनि मोक्ष कैसे गये होंगे? उसका उत्तर यह है कि कोई मुनि ऋद्धिधारी ऋद्धिबलसे उस मेरू पर्वतपर से जा रहा है और मेरू पर्वतके ठीक बीचमें वह हो और वहाँ ही शुक्लध्यान बना, घातिया कर्मोंका क्षय हुआ और वहींसे मोक्ष चले गए तो सीध तो यही बैठाना? वहाँसे भी अनेक जीव मुक्ति गये हैं।

चतुर्विधबन्धमुक्ति—मुक्तिका अर्थ है छूट जाना। जो छूटने योग्य वस्तु हैं परपदार्थ हैं, जिनके सम्बन्धसे यह संसार अवस्था बन रही है उन पर-उपाधियोंसे छुटकारा पानेका नाम मुक्ति है। वह पर-उपाधि है कर्म। कर्मोंमें चार प्रकारका बन्धन है—प्रकृतिका बन्धन, अमुक निषेक इस जीवको इस प्रकारके फल देनेमें निमित्त होंगे। उस फलकी जाति बन जाय। जैसे ज्ञानावरण ज्ञानका आवरण करे, इत्यादि। तो यों उनमें प्रकृतिका बन्धन है। ये कर्म इतने दिन रहेंगे। इस जीवके साथ इतने दिन बाद उदय आयगा, ऐसी उनमें स्थिति पड़ गयी। यह स्थितिबंध है। उन कर्मोंमें फल देनेकी शक्ति बन जाय, यह इतनी डिग्रीका फल देगा, यह अनुभाग बंध है और उन प्रदेशोंका जीवप्रदेशके साथ बन्धन हो जाय, यह है प्रदेश बन्धन। यह जीव उन चार प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होकर ऊर्द्ध लोकमें जाता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

व्यवहारसे बन्धन और मुक्ति—यद्यपि निश्चयदृष्टिसे इसके स्वभावको निरखनेपर यह प्रतीत होता है कि इस जीवमें तो यही जीव है, परपदार्थ कहाँ लिपटे हुए हैं ? स्वभावदृष्टिसे निरखनेपर केवल स्वभाव ही दृष्टिगोचर होता है, लेकिन केवल इतनी ही बात तो नहीं है। जो निश्चयदृष्टिसे यहाँ देखा जा रहा है, निश्चयकी दृष्टिमें निश्चयकी बात है, किन्तु यह जीव कर्मोंसे घिरा है, विभावोंका इसमें मेल है ये सब बातें भी तो चल रही हैं। उनसे यह जीव मलिन हो रहा है, सो यह मलिनता उन उपाधियोंका बन्धन मिटाये बिना दूर न हो सकेगी। जब जीव इन बंधोंसे सर्वप्रकार मुक्त हो जाता है तो स्वाभाविक अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्तिसे सम्पन्न होकर यह जीव एक ही समयमें मोड़ों रहित गति से ऊर्द्धको प्राप्त हो जाता है।

संसारी जीवकी विग्रहगति—जब जीव संसारअवस्थामें रहता है तो मरणके बाद जन्मस्थानपर पहुंचनेमें किसी जीवको १, किसीको २ और किसीको ३ भी मोड़े खाने पड़ते हैं। चौथा मोड़ खानेकी आवश्यकता नहीं रहती। इस लोकके किसी भी स्थानसे मरकर किसी भी विषम स्थानपर उत्पन्न हुआ तो भी तीन मोड़से अधिक मोड़ लेनेकी आवश्यकता नहीं रहती। मरणके बाद औदारिक शरीर और वैक्रियक शरीर न होनेके कारण इसकी गति यथा तथा नहीं हो पाती। आकाशकी श्रेणियोंके अनुसार गति होती है तब उन श्रेणियोंसे चलनेपर कोई स्थान ऐसा भी है कि जहाँ एक मोड़ कहीं-कहीं और कहीं तीन मोड़ लेने पड़ते हैं, किन्तु मुक्त होनेपर जीव तो जहाँसे भी मुक्त हुआ है उस ही की सीधमें जाता है। उसकी गतिमें मोड़ा नहीं होता। उनकी गति अविग्रहगति कहलाती है। विग्रहका अर्थ मोड़ भी है, विग्रह का अर्थ शरीर है। इस प्रकरणमें विग्रहका अर्थ मोड़ है। मोड़ सहित गतिको विग्रहगति कहते हैं। विग्रहरहित गतिको अविग्रहगति कहते हैं। दूसरा विग्रहगतिका अर्थ है विग्रह पानेके लिए गमन। विग्रहका अर्थ शरीर भी है। जैसे व्यवहारमें भी लोग कहते हैं उसे जिसका शरीर बड़ा तगड़ा हो कि इसका विग्रह बड़ा पुष्ट है, नया विग्रह धारण करनेके लिए जो गति होती है उसका नाम विग्रहगति है। यह सिद्धप्रभु अविग्रह होनेपर गति अविग्रह पद्धतिसे करते हैं, ये विदिशावोंमें गमन नहीं करते। जो बद्ध जीव है उसकी तो ६ गतियां हैं। कार्माणकाययोगमें मरणके बाद जन्मके अनन्तकालमें ६ अपक्रममें गति होती है, किन्तु मुक्त जीवके तो केवल एक स्वभावकी गति है।

मुक्त जीवकी ऊर्द्ध गतिकी प्रथम मुक्ति—तत्त्वार्थसूत्रमें एक समाधान है इस प्रश्नका कि मुक्त जीव ऊपर ही क्यों जाता है ? और इसके दृष्टांत भी दिये हैं। एक उत्तर यह बताया है कि इन जीवोंको पूर्वका संस्कार है, प्रयोग है। जिन जीवोंने मुनि अवस्थामें सिद्ध जीवकी ओर दृष्टि लगाई थी, सिद्ध प्रभुका स्मरण भी उन्होंने ऊर्द्धलोकमें ही अपना उपयोग लगाकर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

किया था और उस सिद्ध लोकमें उनकी सिद्ध होकर रहनेकी चाह भी थी, पीछे वे निर्विकल्प होकर कर्मोंका क्षय कर सिद्ध होते हैं तो अब वे उस पूर्वप्रयोगके कारण सीधे उस ही जगह पहुंच जाते हैं। जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है चक्रपर, तो वह चक्रको डंडेसे २ मिनट खूब घुमाता है, घूमनेके बाद फिर उस डंडेके छोड़ देता है, फिर भी दो-तीन मिनट तक वह चक्र घूमता ही रहता है, क्योंकि इस चक्रको पूर्वका प्रयोग मिला है।

मुक्त जीवकी ऊर्ध्वगतिकी द्वितीय युक्ति—दूसरी युक्ति यह है कि मुक्त जीव चूँकि सर्वथा निःसंग है। कर्मोंका संग नहीं रहा, देहका संग नहीं रहा, भाररहित हो गए हैं, इस कारण उसका गमन ऊपरकी ओर होता है। जैसे जलमें कीचड़ इत्यादिसे भरी हुई तूँबी डाल दी जाय तो वह जलमें डूब जाती है, पर कीचड़ बह जानेपर वह तूंबी फिर ऊपर तैरने लगती है। इस प्रकार कर्मोंके भारसे सहित होनेसे यह जीव संसार-समुद्रमें गोते खा रहा है, जब संग, भार, कर्म, शरीर, विभाव ये सब दूर हो जाते हैं तो निर्भार होनेके कारण यह जीव स्वभावतः ऊपर ही जायगा।

मुक्त जीवकी ऊर्ध्वगतिकी तृतीय युक्ति—तीसरी युक्ति है कि जब तक यह जीव बंधमें बँधा हुआ है तब तक तो यह यहीं नीचे रह रहा है और जिस काल इस जीवके बंधका छेद होता है तब ऊर्ध्वदशामें ही जाता है। जैसे एरेन्डाके बीजपर छिलका लगा हुआ है ऊपर, जब तक उसका छिलका साबुत है वहींका वहीं है और जब उसका छिलका टूटता है, अलग होनेको होता है उस समय यह बीज स्वभावसे ऊपर आ जाता है। फिर ऊपर जाकर नीचे गिरता है इसको दृष्टान्तमें नहीं लेना है, क्योंकि दृष्टान्त एक देश हुआ करता है। जितना प्रयोजन होता है उतना ही अंश लिया जाता है। जब जीवके कर्म, शरीर इत्यादिका सम्बंध नहीं रहा तब यह जीव ऊपर दिशामें ही अपना गमन करता है।

मुक्त जीवकी ऊर्ध्वगतिकी चौथी युक्ति—चौथी युक्ति बतायी है कि जीवका इस प्रकार गमन करनेका स्वभाव ही है। जैसे अग्निकी शिखापर कोई थाली आदिका आवरण होनेसे वह यहाँ वहाँ जाय, पर निरावरण शिखाका ऊपर ही उठनेका स्वभाव है, इसी प्रकार जीवपर कर्मोंका जब तक आवरण है तब तक भले ही ऊपर नीचे यहाँ वहाँ कैसा ही घूमा करे, पर जब ये सब आवरण हट जाते हैं तो यह स्वभावसे ऊपरको ही जाता है।

बन्धनकी सिद्धि—इस गाथामें सीधे रूपसे कहा तो इतना ही है कि यह जीव सर्व प्रकार बंधोंसे मुक्त होकर ऊर्द्धको ही जाता है, किन्तु इसमें कितनी ही स्थितियाँ भरी पड़ी हैं। प्रथम तो यही सिद्धान्त सिद्ध होता है कि यह जीव बन्धनसे बँधा हुआ था। कुछ दार्शनिक लोग इस जीवको बँधा हुआ नहीं मानते। यह जीव तो सदाशिव है, उसमें बन्धन नहीं पड़ा है। केवल एक प्रकृतिके सम्बंधसे बन्धनका भ्रम हो गया है, लेकिन यह बात तो एकदम

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विरुद्ध प्रतीत होती है। अरे भ्रमसे बन्धन मालूम होता है तो यह भ्रम किसमें लगा हुआ है ? जो जाननहार है उसमें ही तो भ्रम लगा है। जो भ्रमसे न बंधे हुएको भी बँधा हुआ निरख रहे हैं तो क्या भ्रम कम बन्धन है ? यही तो विकट बन्धन है। यह जीव बन्धनसे युक्त था, एक यह बात सिद्ध होती है।

जीवके अस्तित्वकी पुष्टि—बन्धनसे मुक्त होनेके बाद उसका अस्तित्व बना रहा है यह भी इस गाथासे सिद्ध होता है। कहीं ऐसा नहीं है दीपकके निर्वाणकी तरह यह आत्मा भी बुझ जाता हो। कहीं न रहता हो इसका नाम मुक्ति है, ऐसा नहीं है। यह आत्मा एक सद्भूत है, वह बन्धनसे मुक्त होकर भी रहता है। कहाँ रहता है वह ? सिद्ध लोकमें रहता है। वहाँ चला जाता है। बन्धनमुक्त होनेके बाद इस आत्माकी सत्ता रहती है, यह सिद्ध हो जाता है और इसकी सिद्धिके ही प्रसंगसे वह ज्ञानात्मक है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है आदिक सभी चमत्कार उसमें प्रसिद्ध हो जाते हैं।

अलख निरञ्जन—लोग प्रभुके सम्बन्धमें यह महिमा बताया करते हैं कि यह अलख है, निरञ्जन है और चिदानन्दस्वरूप है, सच्चिदानन्दमय है, किन्तु इन विशेषणोंका जो विस्तार है, फैलाव है उस फैलावमें जब तक रुचि नहीं जगती है तब तक ईश्वरका मानना, न मानना समान ही हुआ। आत्मा तो अमूर्त है तब वह इन्द्रियों द्वारा लक्ष्यमें कैसे आये ? जिसको जब लक्ष्यमें आता है तब वह उसका प्रतिपादन नहीं कर सकता है इस कारण यह प्रभु अलख है। भावकर्म अथवा द्रव्यकर्म व शरीर मलसे दूर हुए हैं वे अतएव निरञ्जन हैं, इसी कारण कृतकृत्य हैं। कुछ काम ईश्वरको करनेको नहीं पड़ा है, जहाँ कुछ करनेको पड़ा है वहाँ क्षोभ रहता है।

वस्तुस्वातन्त्र्यकी प्रतीतिमें शान्तिमार्गपर गमन—जब तक पदार्थमें स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है ऐसी प्रतीति नहीं होती है तब तक हम मुक्तिके मार्गमें, शान्तिके मार्गमें बढ़ ही नहीं सकते हैं। अज्ञानका शल्य वहुत बड़ा शल्य होता है। कितनी ही भक्ति करे, कितना ही परोपकार करे, कितना ही दया दान आदिक प्रवृत्ति करे, उदारता भी दिखाये, देशके लिए अपना जीवन भी होम दे, फिर भी यदि वस्तुविषयक अज्ञान पड़ा हुआ है, प्रत्येक पदार्थ कितना है और वह अपने ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपसे बना रहा करता है ऐसी स्वतंत्रता जब तक विदित नहीं होती तब तक जीव परके रूपसे हटकर अपने ज्ञानप्रकाशमात्र स्वरूपमें ठहर नहीं सकता। और जब यह अपने स्वरूपमें न ठहरेगा, परकी ओर लगेगा तो इस जीवको प्रकृत्या अशान्ति रहेगी। इसी कारण जो शान्तिके इच्छुक पुरुष हैं वे इस ही ज्ञानमार्गमें अपना कदम बढ़ाते हैं।

अपनी निधिकी भूलका परिणाम—भैया ! जो बात हम चाहते हैं वह हमारे स्वभाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में है, इसी समय है, भरपूर है, लेकिन घरमें गड़ी हुई निधिका पता न हो तो वह पुरुष दरिद्र की तरह व्याकुल रहा करता है, इस ही प्रकार जब हमें अपने स्वभावका अपनी प्रभुताका भान नहीं है तो किसी भी परपदार्थमें जो समस्त असार हैं भिन्न हैं उनमें इष्ट अथवा अनिष्ट बुद्धि करके हम अपनी कषायके अनुकूल उन्हें परिणमानेके लिए दीन बने रहा करते हैं। इतना साहस बने, संकल्प बने कि यह मैं आत्मा सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हूं, किसी पदार्थका अधिकारी कर्ता भोक्ता कुछ भी नहीं हूं। जब तक वस्तुस्वरूपकी स्वतंत्रताका भान नहीं होता तब तक मोक्षके मार्गमें हमारा कदम नहीं बढ़ सकता।

व्यवहारकी ज्ञेयता—यद्यपि वस्तुकी सिद्धि निश्चय और व्यवहार–दोनों नयोंसे होती है, लेकिन स्थिति जाननेके लिए दोनों नय कार्यकारी हैं, फिर भी हम किस नयके विषयमें अपनी दृष्टि गड़ायें, लक्ष्य बनायें कि हम निर्विकल्प समाधिमें रत हो सकें। कुछ गम्भीर यत्न के साथ इसका निर्णय करिये। व्यवहारनय कहता है कि यह आत्मा कर्मोंसे बँधा है। ठीक है, यह बात गलत नहीं है, परिस्थिति ऐसी है, लेकिन साथ ही यह भी तो है कि यह आत्मा अपने ही सत्त्वके कारण केवल अपने प्रतिभास स्वरूप है। अब इन दोनोंमें से हम केवल व्यवहारनयके विषयका लक्ष्य बनाकर रह जायें, देखो यह आत्मा कर्मोंसे बँधा है, कर्मके उदयसे इस जीवको सुख दुःख मिलता है और-और भी सोचते जाइए। इस चिन्तनासे आपने कौनसी निर्विकल्पता पा ली ? अतएव व्यवहारनयका विषय लक्ष्यरूप बनानेके लिये नहीं होता, किन्तु व्यवहारनय परिस्थितिका ज्ञान कराता है। और लक्ष्यमें विघ्न विषयकषायोंसे बचनेके लिए कुछ उपाय बताता है।

निश्चयका लक्ष्य—अब निश्चयनयके लक्ष्यपर दृष्टि करिये। कुछ भी अपनी परिस्थिति हो अर्थात् कर्मोंसे बँधे हैं, शरीरसे बँधे हैं, रागादिक भी हो रहे हैं, इन सब परिस्थितियोंके बावजूद भी निश्चयनयके विषयपर अपना उपयोग तो पहुंचाइये। यह मैं आत्मा एक प्रतिभासस्वरूप हूं, इस मुझ आत्माका प्रतिभास ही लक्षण है, यही स्वभाव है। स्वभाव स्वभाववान कुछ जुदे नहीं हैं। केवल यह चित्प्रकाशमात्र मैं हूं। अनादि अनन्त सर्वसे विविक्त केवल अपने स्वरूपमात्र चित्स्वभाव हूं। जरा गहन दृष्टिसे इस ओर मनन तो हो, फिर देखो मननसे आत्मतत्त्वमें कौनसी समृद्धि जगेगी ? निर्विकल्प अखण्ड अन्तस्तत्त्वकी ओर इसकी दृष्टि जगेगी और यह उस ही समय शान्तिका अनुभव कर लेगा।

करणीय कृत्य—भैया ! हम सबका यही तो काम है करनेका कि अपने बारेमें निश्चय और व्यवहारसे सभी प्रकारकी जानकारी कर लें और लक्ष्य बनायें निश्चयनयके विषयका। उसमें भी परमशुद्ध निश्चयनयके विषयका और चूँकि हम चिरकालसे विषयकषायोंके बन्धनमें बँधे चले आ रहे हैं, उनसे मुक्त होनेके लिए प्रथम व्यवहारका उपाय करें ताकि विषयकषायों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

को तुरन्त रोक लें और उस अवसरमें शुद्ध ध्यानके प्रतापसे हम शांतिका मार्ग प्राप्त कर सकें। यही एक मुख्य कार्य है जिससे सर्व संकटोंसे मुक्त होकर हम सदाके लिए अनन्त आनन्दमें रत रहेंगे।

जीव तत्त्वके अवगमका मूल प्रयोजन—जीवास्तिकायके व्याख्यानके इस अधिकारमें जो प्रथम गाथा आई थी उसमें ९ उपाधिकारोंका निर्देश है। जीव, चेतयिता, उपयोगविशेषित, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहमात्र, मूर्त व कर्मसंयुक्त। इनके सम्बन्धमें पूर्वानुपूर्वी, पश्चादनुपूर्वी व यथातथानुपूर्वीसे उन अंतराधिकारोंमें जीवास्तिकायका वर्णन करके चूलिकारूपमें उसका कुछ और विवरण किया। जीव पदार्थके अवगमका प्रयोजन यह है कि हम जीव हैं, अपने सहज स्वरूपको पहिचानें और इसमें ही रत हों, इसमें ही सर्वकल्याण है।

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित "पञ्चास्तिकाय प्रवचन" का यह तृतीय भाग सम्पन्न हुआ।

॥ इति पञ्चास्तिकाय प्रवचन तृतीय भाग समाप्त ॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

॥ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविशासविकासभूमि, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः ।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com